श्रीअग्रदेवाचार्यपीठ-प्रकाशन प्रथमपुष्प—

❀ श्रीजानकीनाथो जयति ❀

रैवासा पीठाधीश्वर श्रीअग्रदेवाचार्यकृत—

अग्र-ग्रन्थावली

[प्रथम भाग]

(कुण्डलिया सटीक)



टीकाकार

स्वामी श्रीराजकिशोरीवरशरणजी

जानकी घाट, श्रीअयोध्याजी

सम्पादक

गणेशदास 'भक्तमाली'

सुदामाकुटी, वृन्दावन

प्रकाशक

अध्यक्ष-श्रीराघवाचार्यजी वेदान्ती

श्रीजानकीनाथ, बड़ा मन्दिर ट्रस्ट

रैवासा, सीकर (राजस्थान)

श्रीअग्रदेवाचार्यपीठ प्रकाशन–प्रथमपुष्प–

❁ श्रीजानकीनाथो जयति ❁

रैवासा पीठाधीश्वर श्रीअग्रदेवाचार्यकृत–

अग्र-ग्रन्थावली

[प्रथम भाग]

(कुण्डलिया सटीक)



टीकाकार

स्वामी श्रीराजकिशोरीवरशरणजी

जानकी घाट, श्रीअयोध्याजी

सम्पादक

गणेशदास 'भक्तमाली'

सुदामाकुटी, वृन्दावन

प्रकाशक

अध्यक्ष–श्रीराघवाचार्यजी वेदान्ती

श्रीजानकीनाथ, बड़ा मन्दिर ट्रस्ट

रैवासा, सीकर (राजस्थान)

प्रथम-संस्करण
१९०० प्रतियाँ

न्यौछावर
१५/–रुपया

सम्पादक
गणेशदास 'भक्तमाली'
सुदामाकुटी, श्रीवृन्दावन

भूमिका-लेखक
प्रोफेसर डॉ० नरेशचन्द्रजी बंसल
श्रीवास निलयम, गली कन्या पाठशाला
कासगंज, एटा (उ.प्र.)

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान
अध्यक्ष–श्रीराघवाचार्यजी वेदान्ती
श्रीजानकीनाथ, बड़ा मन्दिर ट्रस्ट
रैवासा, सीकर–जिला (राज०) पिन : ३३२४०३
फोन : २२५ बाजौर

प्रकाशन तिथि
श्रीअग्र-जयन्ती
फाल्गुन शुक्ल २, संवत् २०५०, दि० १४ मार्च १९९४

प्रथम-संस्करण
११०० प्रतियाँ

पुनर्मुद्रणार्थ न्यौछावर लागत मात्र
१५/– रुपया

प्रिन्टर्स
मारुति प्रेस
मदनमोहन-घेरा, वृन्दावन (मथुरा)

भूमिका

रामभक्तिके रसिक मधुरोपासकोंमें स्वामी श्रीअग्रदासजी का नाम परम वन्दनीय और अग्रगण्य है। हिन्दू-धर्मके रक्षक और पुनः प्राण-प्रतिष्ठापक श्रीरामानन्दजी की शिष्य-परम्परामें ये श्रीकृष्णदास 'पयहारी' के प्राणप्रिय शिष्य थे। बाल्यकालमें ही ये सिद्ध सन्त पयहारीजीके शिष्य हो गये थे। यह इनका विशेष सौभाग्य था। राजस्थानके पीकसी नामक ग्राममें इनका जन्म बताया जाता है। जयपुर पार्श्ववर्ती परम प्राचीन गालवाश्रम (गलता) में उनके पास साधनालीन रहते थे। इनका आविर्भाव १६वीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध माना जाता है। अपने पूजास्पद गुरुदेवके तिरोधानके बाद ये रैवालसर (रैवासा) नामक एक सुरम्य प्राकृतिक परिवेश परिमंडित स्थानमें पधारे। यह रैवासा शेखावटीके खण्डेला राज्यान्तर्गत विशाल पहाड़ीके चरणावर्ती ग्राम है। इस पहाड़ीके दूसरे छोर पर ७वीं शताब्दी पूर्वका सिद्ध जीणमाताका स्थान है।

स्वामी अग्रदासजीको रैवासामें जानकीजीके दर्शन हुए। यह उनकी आध्यात्मिक-साधना और रसिक-भावना की अमृत-स्थली बनी। उन्होंने सियमनरंजनी जानकी वाटिका की संरचना की। यहीं वे विरक्तिके चरम-शिखिर पर स्थित होकर परम अनुरक्तिसे आपाततः भरकर मानसीमें रसोच्छलित रहते थे। महाराजा भगवंतदास सुत राजाधिराज महाराजा मानसिंह इन महान् सन्तके दर्शनार्थ पधारे थे। 'भक्तमाल' की 'भक्तिरस-बोधिनी टीकाके प्रणेता परम शोधी-खोजी सन्त और भक्तोंके रसपूर्ण चरित विस्तारक, रसराशि श्रीप्रियादासजीने वि.सं. १७६९ से पूर्व अभिलिखित किया—

दरसन काज महाराज मानसिंह आयौ,
छायो बाग मांझ बैठे द्वार द्वारपाल हैं।
झारि के पतोवा गये बाहिर लै डारिबे को,
देखी भीर भार रहे बैठि ये रसाल हैं।।
आये देखि नाभा जू नैं साष्टांग करी ठाढ़े,
भरी जल आखें चले अँसुवनि जाल हैं।
राजा मग चाहि, हारि आनि कै निहारि नैंन,
जानी आप जानी भये दासनि दयाल हैं।।

रैवासा महापीठमें ऐसी मान्यता है कि सम्राट् अकबर संभवतः वि. सं. १६१९ में अपने सेनानायक महाराज कुंवर मानसिंहके साथ स्वामीजीके दर्शनार्थं आया था। 'अग्रस्वामी-चरित' से अवगत होता है अकबरने—

'धेनु चरन हित पट्टो दीन्हों।

स्वामीजीके कृपापात्र शिष्य 'भक्तमाल' जैसे महाग्रन्थके प्रणेता स्वामी नाभादासजी वि.सं. १६४० से पूर्व अपने गुरुदेव श्रीअग्रदेवाचार्यके विषयमें लिखते हैं—

श्रीअग्रदास हरिभजन बिन काल वृथा नहिं बित्तयो।।
सदाचार ज्यों सन्त प्राप्त जैसे करि आये।
सेवा सुमिरण सावधान चरण राघव चित लाये।।
प्रसिध बाग सों प्रीति सुहथ कृत करत निरन्तर।
रसना निर्मल नाम मनहुं वर्षत धाराधर।।
श्रीकृष्णदास कृपा करि भक्तिदत्त मन बच क्रम करि अटल दयौ।
श्रीअग्रदास हरिभजन बिन काल वृथा नहिं बित्तयो।।
(छप्पय सं० ४१, रूपकला संस्करण)

श्रीराधाबल्लभ-सम्प्रदायके रसिक श्रीब्रजजीवनदासजीने अपनी 'टिप्पणी' इन शब्दोंमें दी है—

श्रीजानकीरवन की भावना मगन मन,
आठहूं जाम के सुख सँभारे ।
मेघ की धार सो नाम रसना रटैं,
कृपा गुरु भक्त पथ अचल ठाढ़े ।।
साधु लख फूलहीं सम्प्रदा चार,
लावहीं कंठ आनन्द बाढ़े ।
चले गत बंक जगराय और रंक सम,
कथा परसिद्ध बाग वारी ।
मंजरी ध्यान रसखान बरनन करी,
श्रवण जरहि परि हिय भई उज्यारी ।।
अवध सिद्धांत की छंद कुंडल कथी,
गथी रस प्रेम बानी रसाल ।
कहत ब्रजजीवनादास कहा कहि सकै,
बनी जिहि कृपा तें भक्तमाल ।।
(पाण्डुलिपि अरिल्ल भक्तमाल)

सद्यः निकुंज निवासी ऋषिकल्प श्रीब्रजबल्लभशरणजीने 'श्रीभक्तमाल' में स्वामी अग्रदासजीके संबन्धमें एक प्राचीन पाण्डुलिपिसे निम्नलिखित छंद प्रस्तुत किया था—

बन्दौ पद कमल अग्रस्वामी जू के,
आचारज रसिक सिरोमनि महान हैं ।
रसबोध विपुल आनन्दघन सील दया,
छमा तोष धन जन मानद अमान हैं ।।
मेटि रुक्ष ज्ञान महामाधुर्य प्रधान जिन्ह,

कीन्हों अग्रसागर सो विदित जहान हैं ।
लीनो माथे सार ध्यान-मंजरी शृङ्गार सब,
भेदी अनभेदी पढ़े जानत महान हैं ।।

वि.सं. १८४० के आसपास समस्त राजवैभवको छोड़कर वृन्दावन-वास करने वाले श्रीसुन्दरदासजीने स्वकृत 'सुन्दरश्याम-विलास' में अग्रदासजी की प्रशंसामें अपनी वाणी धन्य करते हुए स्वामीजी महाराजका एक पद भी आकलित किया है—

।। चौपाई ।।

श्रीअग्र भक्तों में आगर । हरि के भक्ति में मानो सागर ।।
तिनके परचे बहुत प्रकास । फैलि रहे जग मनो अकास ।।

।। दोहा ।।

तिनके पदकौं लिख इहां, करौं पवित्र ये ग्रन्थ ।
जाके गाये सुने तें, सूझै सूधौ पन्थ ।।

।। राग विलावल ।।

हम चाकर रघुनाथ कुंवर के ।
जम के दूत निकट नहिं आवत द्वादस तिलक देखि घर धर के ।।
बांध्यो साज विचार ज्ञान को और सबन सौं निजकर तर के ।।
तिहारो भरोसो और न दूजो भये गुलाम रावरे घर के ।।
हौं अजाच जाचौं नहिं काहू आश्रित होत नहीं सुर नर के ।।
शिव विरंचि नारद मुनि ज्ञानी भये सबन रावरे वर के ।।
अधम उद्धार किये जन अपने सत्य बचन मान सतगुरु के ।।
अग्रदास पटो लिख पायो दसखत दसरथ सुत के कर के ।।

(निज-संग्रह)

हमारी विगत ३५ वर्षों की खोजोंमें उक्त 'अग्रसागर' के प्राय: १००० पद संप्राप्त हो गये हैं। यह स्वामी अग्रदासजी की कृपासे ही संभव हुआ है। यही नहीं उनके द्वारा प्रणीत अनेक रचनाओं की पाण्डुलिपियोंसे सामग्री संचित करनेका स्वस्तिक अवसर भी मिला है। इनके विषयमें लिखा नाभा स्वामीजीके सद्यः प्राप्त ये पद बहुत महत्वका है—

।। राग सारंग ।।

ए सब बात अगर कों पोषी कर करवा कोपीन।
सुनु अजात सुरिद सबहिन सों साद गरीबी दीन ।।टेक।।
जगद्‌गुरू राजवंदनी बाग टहल तन छीन।
कलिजुग काल पराभौ नाहीं भगति भजन अति पीन ।।
मधुर वचन विस्वमंगलकारी उचरचौ सबद न दीन।
गुरु गोविन्द चरन रति ऐसी ज्यौं सरधा जल मीन ।।
स्वारथ सूनि प्रगट परमारथ माया नहीं अधीन।
सौरभ स्वामि उदार अनाथ पद तहाँ 'नाभ' भौलीन ।।

(पाण्डुलिपि निज-संग्रह पद संख्या ३४८)

।। राग सारंग ।।

श्रीअगरदास की दसा एक रस आदि अंत निबही।
गुरु गोविन्द बाग की सेवा ज्यों भागवत कही ।।
परस्यौ नहीं पवन कलिजुग कौ मन क्रम वचन सही।
त्रिगुन रहित विदित तत्वदर्सी अनुदिन दृष्टि तहीं ।।
कलि के अनुज क्रिया बल पूरन धारा अटल रही।
सोई पद-कमल सदा सुषकारी 'नाभे' सरन गही ।।

नाभा स्वामीजीने स्वयं लिखा है कि 'भक्तमाल' रचना हेतु—

अग्रदेव आग्या दई, भक्तन को जस गाव।
भवसागर के तरन को, नाहिन और उपाव ।।

उपासना, रचना सौकर्य, मुखसुरत, प्रयत्न लाघव, सांगीतिक अनुरोध आदिके कारण स्वामी अग्रदासके विविध नाम उनकी कवितामें छापस्वरूप आये हैं जैसे अगर, अग्रअली, अगरअली, अग्रस्वामी, अग्रराय, अगरदास, अग्रदास अलि आदि-आदि। ये सब इन्हींके पर्याय नाम हैं। 'अग्रअली' इनका साधनापरक महली परिवार नाम है। रामभक्तिके रसिक-सम्प्रदायमें स्वामी अग्रदास 'अग्रअली' के नामसे ही विख्यात हैं। ये श्रीसीताजी की प्रिय-सखी चन्द्रकलाके अवतार माने गये हैं। इनके शिष्य नाभादासजीने इन्हें 'सौरभस्वामि' एक पदमें कहा है। संभवतः अगरदासका नाम अगरु सौरभको अन्तर्भुक्त किये हैं। इनमें रस-साधनाका अपरिमित सौरभ भरा हुआ था। इन्होंने उसी हृदयस्थ अगरु गंधको आजीवन महकाया।

इनके शिष्योंमें एकसे एक प्रतापी धर्म-धुरन्धर और भक्ति-रसारूढ़ सन्त हुए। रामरसरसिक बाबा गणेशदासजी महाराजने स्वसंपादित 'भक्तमाल' चतुर्थ-खंडमें शिष्य परिचायक छंद दिया है—

श्रीअग्र अनुग्रह ते भये, शिष्य सबै धर्म की धुजा।
जंगी प्रसिद्ध प्रयाग, विनोदी, पूरन बनवारी॥
नरसिंह, भल भगवान, दिवाकर दृढ़ व्रतधारी।
कोमल हृदय किशोर, जगत जगन्नाथ सलूधौ॥
औरौ अनुग उदार खेम, खीचो, परमधीर लघु ऊधौ।
त्रिविध ताप मोचन सबै, सौरभ प्रभु निज सिर भुजा॥
श्रीअग्र अनुग्रह ते भये, शिष्य सबै धर्म की धुजा॥

श्रीअयोध्या, चित्रकूट और मिथिलामें अनेक प्रमुखपीठ इन्हीं स्वामी अग्रदासजी की परम्परासे सम्बद्ध हैं। ५२ द्वारोंमें से १४ द्वारे इनके ही हैं—

१–भगवन्नारायण	(द्वाराचार्य),	पिंडोरी ग्राम,	(पंजाब)	गद्दी
२–तन तुलसीदास (तत्वतुलसी)	,,	मुड़ियारामपुर	(बाराबंकी)	,,
३–देवमुरारि	,,	दारागंज	(प्रयाग)	,,
४–मलूकदास	,,	कड़ा मानिकपुर		,,
५–देव भण्डारी	,,	डागर	(इटावा)	,,
६–दिवाकर	,,	जामल स्थान	(दौसा)	,,
७–पूरण वैराठी	,,	सरय्या	(ग्वालियर)	,,
८–लाल तुरंगी	,,	हरियाग्राम (महदावल, पंजाब) एवं ध्यानपुर (गुरुदासपुर पंजाब)		,,
९–नाभादास	,,	रैवालसर (रैवासा–जयपुर) एवं अनासागर	(अजमेर)	,,
१०–गोविन्ददास	,,	लोहागढ़	(जयपुर)	,,
११–कालूनयना	,,	मेड़गोमका ग्राम	(जोधपुर)	,,
१२–हनुमान हठीले	,,	महदीपुर	(अलवर)	,,
१३–जंगी	,,	पटियाला (पंजाब) एवं झूसी	(प्रयाग)	
१४–रामरमानी	,,	मेड़ता	(जोधपुर)	,,

श्रीरैवासा महापीठ मूल गद्दी है जहाँ स्वामी नाभादासजी पीठासीन हुए। सभी गद्दियोंके द्वाराचार्य अग्रजीके शिष्य-प्रशिष्य हुए। इन द्वाराचार्योंमें श्रीजंगीरामजीका द्वारा नहीं चला। इन सबसे श्रीरामानन्द श्रीसम्प्रदायमें स्वामी अग्रदासजीका विराट् अवदान परिज्ञात होता है। इन्होंने जन-जीवनमें आचार, अहिंसा, धर्म, दर्शन, भक्तिका संनिवेश किया। राजकीय अनुदानसे अनुदिन सम्पन्न होते हुए भी आज अनेक सस्थाएँ अपने कार्य और उद्देश्यों की वास्तविक प्रतिपूर्तिमें विपन्न बनी हुई हैं किन्तु

अग्रद्वारों की जमातोंने गाँव-गाँवमें विचरण करते हुए जो श्रेष्ठ संस्कार दिये हैं उनके प्रति श्रद्धासे नतमस्तक होता है।

स्वामी अग्रदासजीको आचार-विचार गुरु-परम्परासे विरासतमें मिले थे। स्वामी अग्रदासजीने अपने तपोबल और रससाधनासे एक ऐसी समन्वयी संस्कृतिका उन्मेष किया किसी जो आज और-और प्रासंगिक बन गयी है। वे भारतीय जनमानसके आराध्य श्रीराम और कृष्ण जैसे लोकनायकोंके भजनके लिए प्रजाका आह्वान कर रहे थे।

राग कानरौमें निबद्ध इस पदसे हमारे कथ्य की पुष्टि होती है—

जान सोई जो जदुपति जावै।
दृष्टि कहै देखै दम्पति सुख गुनी सोई जो गोविन्द गावै॥
सुमति वहै सीतापति पद रति मन सोई माधौ मन भावै।
विद्या धन जिहि वर मानुज हृदै उहै जिहिं हरि वैसावै॥
त्यागी बड़ जो तजै अविद्या ग्यानी वहै जु गुपाल पिछानें।
सूर सोई जो स्यामहिं सनमुख सूर उहै जिहिं कृष्ण भुलानै॥
धर्मी उहै धनुषधर गिरिधर नौंधा भगति करै रस पानें।
'अगरदास' सो अधिक सयानों रामराइ तजि जानै न आनै॥

(निज संग्रह, पांडुलिपि, पद सं० ३४६)

मथुरापुरीके तीर्थपुरोहित की बहीमें ऐसा ही एक पद देखते बनता है—

राम कृष्ण कहिये उठि भोर।
इतै अवधेश उतै व्रजजीवन धनुषधरन अरु माखन चोर॥
इतमें छत्र सिंहासन राजै भरत शत्रुघन लक्ष्मन जोर।

उतमें लकुट मुकुट पीताम्बर इत गौवन संग युगल किशोर ।।
इतमें सिन्धु शिला तिरानी उत गोवर्धन नख की कोर ।
'अग्रदास' के ये दोऊ ठाकुर दशरथ सुत अरु नंदकिशोर ।।

(साकेतवासी परिव्राजक सन्त परमेश्वरदासजीसे प्राप्त)

पुण्यभूमि भारतको वे अपने चिन्तनसे एकसूत्रमें पिरोनेके उत्कृष्ट अभिलाषी थे ।

अथक् शोध-खोजमें अब तक स्वामी अग्रदासजी प्रणीत जो रचनाएँ ज्ञात हुई हैं । उनके नाम ये हैं—

१. ध्यान मंजरी । २. कुण्डलियां । ३. अग्रसागर । ४. अष्टयाम । ५. गुरु अष्टक । ६. प्रह्लादचरित । ७. श्रीसीताराम अष्टक । ८. श्रीमैथिलीशरणाष्टकम् । ९. श्रीराम प्रपत्ति । १०. रामजेवनार । ११. विश्व ब्रह्मज्ञान । १२. हनुमानाष्टक । १३. हरिनाम माला । १४. हरिप्रियानाम माला । १५. हरिनाम प्रताप जस । १६. रहस्य त्रय । १७. रामसार संग्रह । १८. श्रीराममन्त्रराज परम्परा । १९. चतुर्विशव्य नामानि । २०. ध्रुवचरित्र । २१. धरलीला आदि ।

पाठानुसंधान-पूर्वक इनकी प्रामाणिकता पर विचार करते हुए समग्र साहित्यको जनहितमें, प्रकाशमें लाने की महती आवश्यकता है । रामचरितमानसके प्रथम टीकाकार महात्मा रामचरणदासजीने रैवासा जाकर अग्रसागर पढ़ने हेतु अपना तिलक बदल डाला था । रामभक्तिमें रसिक-सम्प्रदायके लेखक डॉ० भगवती प्रसाद सिंहजीने उल्लेख किया है हमारी धारणा है कि स्वामी अग्रदासजीके नाम उल्लिखित— १. रामभजन मंजरी । २. अग्रसार । ३. शृङ्गाररस सागर आदि अग्रसागरके ही विविध संक्षिप्त संकलन हैं । जो भ्रांतिसे पृथक् रचनाएँ मान ली गयी हैं ।

जीवाराम युगलप्रियाजीने स्वकृत 'रसिकप्रकाश भक्तमाल' में स्वामी अग्रदासजी की रचनाओंका सम्यक् मूल्यांकन करते हुए तथा उनकी उपासना पद्धति विषयकको पद्यबद्ध किया है—

रसबोध विपुल आनन्दघन अग्रस्वामि वानी विसद।
अक्षरपद अनुप्रास मधुरता बाल्मीकि सम॥
आसय गूढ़ उपाय प्राप्ति रसिकन की संगम॥
रैवासे जानकीवल्लभी रहसि उपासी।
ललित रसाश्रय रंगमहल कल कुंज खवासी॥
आचारज रसरास पथ रसिकवर्ज रसिकन सुखद।
रसबोध बिपुल आनन्दघन अग्रस्वामि वानी विसद॥

ध्यान मंजरी, अग्रसागर (वाणी) और कुण्डलियां साहित्य अग्रदास 'अग्रअली' की उत्कृष्ट रचनाएँ हैं। ये किसी भी श्रेष्ठ रचनाकारसे टक्कर लेने की सामर्थ्य रखती हैं। क्या भाव, क्या विचार और क्या अलंकरण पक्ष ये 'रसबोध विपुल' रचनाएँ हैं। इनका 'आसय गूढ़' है।

यों तो कुण्डलियां साहित्य प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध हैं किन्तु स्वामी अग्रदासजी की कुण्डलियों की कोई समकक्षता नहीं। ये हिन्दी काव्य-धारा की बेजोड़ निधियां हैं। ज्ञान, विरति विवेक, हरिभक्ति आदिका इनमें विलक्षण आख्यान हुआ है। विद्वन्मण्डलमें इसके कई नाम प्रचलित हैं। जैसे १. उपासना बावनी। २. हितोपदेश भाषा। ३. हितोपदेश उपखाना बावनी। ४. कुण्डलिया रामायण आदि। बावनी नाम छंद संख्यावाची है किन्तु इनके कुण्डलिया संग्रहकर्त्ताओंने स्वरुचि अनुसार ५२, ५४, ७१, ७६ और यहाँ तक कि वि. सं. १७५४ की पांडुलिपिमें ४७ कुण्डलियां ही संग्रहीत है। अतः स्वामी अग्रदासजी कथित-

रचित कुण्डलियां की संख्या शताधिक परिज्ञात होती है। प्रस्तुत संकलनमें ७२+४=७६ कुण्डलियां समाविष्ट हैं। ये विभिन्न पांडुलिपियोंमें किंचित् पाठ भेदके साथ मिल जाती हैं। इन रचनाओंका मुखड़ा लोकोक्तियोंसे सुशोभित है। ये उपाख्यान साधारणजन मंगलहेतु ऋषि मनसे रचे गये हैं किन्तु इनका अर्थ गांभीर्य प्रकांड विद्वानोंको भी चमत्कृत कर देने वाला है। स्वामी अग्रदासजीने संसार की नश्वरता और भक्ति-भजन की सार्थकता पर अत्यंत सजीव भाषामें अनूठे कथन प्रस्तुत किये है। इसमें उनकी मनीषाका विलक्षण विस्तार हुआ है। मन की पवित्रता, भगवद्-प्राप्ति हेतु अनिवार्य है सत्संग—

सूने घर को पाहुनौ ज्यों आवै त्यों जाय ॥
ज्यौं आवै त्यौं जाय धर्म बिन धिक् नरदेही।
झूठ कुटुम संग्रहै तजै सत स्याम सनेही ॥
परमारथ को पीठ दीठ स्वारथ मों दीन्हीं।
जन्म लाभ नहिं लखो राम की भक्ति न कीन्हीं ॥
'अग्र' कहै सत्संग बिनु कछू लाभ नहिं आय।
सूने घर को पाहुनौ ज्यों आवै त्यों जाय ॥

(पांडुलिपि वि सं. १७५४, १८७६ आदि)

स्वामीजी काया की नश्वरता और शीघ्र हरि-भजनका उपदेश कैसी मधुर चेतावनीके साथ देते हैं—

आग लगंते झोपड़ा जो निकसे सो लाभ ॥
जो निकसे सो लाभ चेत मानुष तम चोरी।
वे लेखे की श्वास जात आवत न बहोरी ॥
ज्यों कर अंजुलि माँहि घटत जल थिर न रहावै।
कर आतुर हरि भजन साखि काया ध्रुव जावै ॥

'अग्र' कहाँ लौं थेगरी दीजै फाटे आभ।
आग लगंते झोपड़ा जो निकसे सो लाभ॥

(पाण्डुलिपि वि. सं. १७५४, १८७६ आदि)

ऐसे ही जीवन-सार की ओर संकेत एक और कुण्डलीमें किया गया है—

'अग्र' भजन आतुर करो जौ लौं पंजर स्वास।
नदी किनारे रूखड़ा जब कब होय विनास॥

(वही पांडुलिपियां)

कितने सहज प्रेरणीय उपदेश है। जीवनोपयोगी आखिरी बात मनन कर आचरण करने योग्य है—

जो दिन जाय आनन्द में जीवन को फल सोय॥
जीवन को फल सोय आनन्द विधि उरमें धारे।
मन्त्री ज्ञान विवेक अशुभ अज्ञान निवारे॥
पदुम पत्र जिमि रहे काल सम विषय पिछाने।
जग प्रपंच सब झूठ सत्य सीतापति जाने॥
'अग्र' अजा के स्वाद ते त्रिपित न देखो कोय।
जो दिन जाय आनन्द में जीवन को फल सोय॥

इन कुण्डलियों की बड़ी सुन्दर तात्विक व्याख्या की गई है जिससे सामान्य पाठकको इसके मर्म तक पहुँचनेमें बड़ी सहायता मिलती है। रैवासा महापीठके श्रीमहंत आचार्य राघवदासजी वेदान्ती की इन कुण्डलियों पर अपरिमित प्रीति हमने अपने रैवासा-दर्शनमें लक्षित की थी। वे इन कुण्डलियों पर नियमित कथा करानेके उत्कृष्ट अभिलाषी हैं।

स्वामी अग्रदासजी की लोकोक्ति पद्धतियुक्त कुण्डलियोंने हिन्दीमें एक खासी परम्पराको जन्म दिया। इनमें बल्लभ सम्प्रदायान्तर्गत जगतानन्द कृत उपखाने दशम स्कंध, राधावल्लभ सम्प्रदायमें चाचा श्रीवृन्दावनदासजीकृत कुण्डलियां गिरिधर कविरायकृत कुण्डलियां बहुत प्रसिद्ध हैं अति उत्तम लौकिक, पारमार्थिक शिक्षा प्रदान करनेमें ये कुण्डलियां अप्रतिम शक्तिशाली हैं। इनमें अनूठी व्यंग्योक्ति भी मिलती हैं। किन्तु जीवको परमार्थमें प्रवृत्त करनेमें ये कुण्डलियां असाधारण सचोट सूक्तियां हैं। रामानन्द श्रीसम्प्रदायमें ही नहीं ये कुण्डलियां पूरे जनसमुदायमें अपनी मारक और तारक शक्तिसे प्रसार पा गईं। हिन्दी जगत्को इन कुण्डलियोंको एकत्र करनेके लिए आगे आना चाहिए।

डॉ० नरेशचन्द्र बंसल
अध्यक्ष—हिन्दी स्नातकोत्तर अध्ययन
एवं शोध विभाग के. ए. (पी.जी.) कॉलिज,
कासगंज (एटा)
पूर्व निदेशक वृन्दावन शोध संस्थान,
वृन्दावन (मथुरा) उ.प्र.

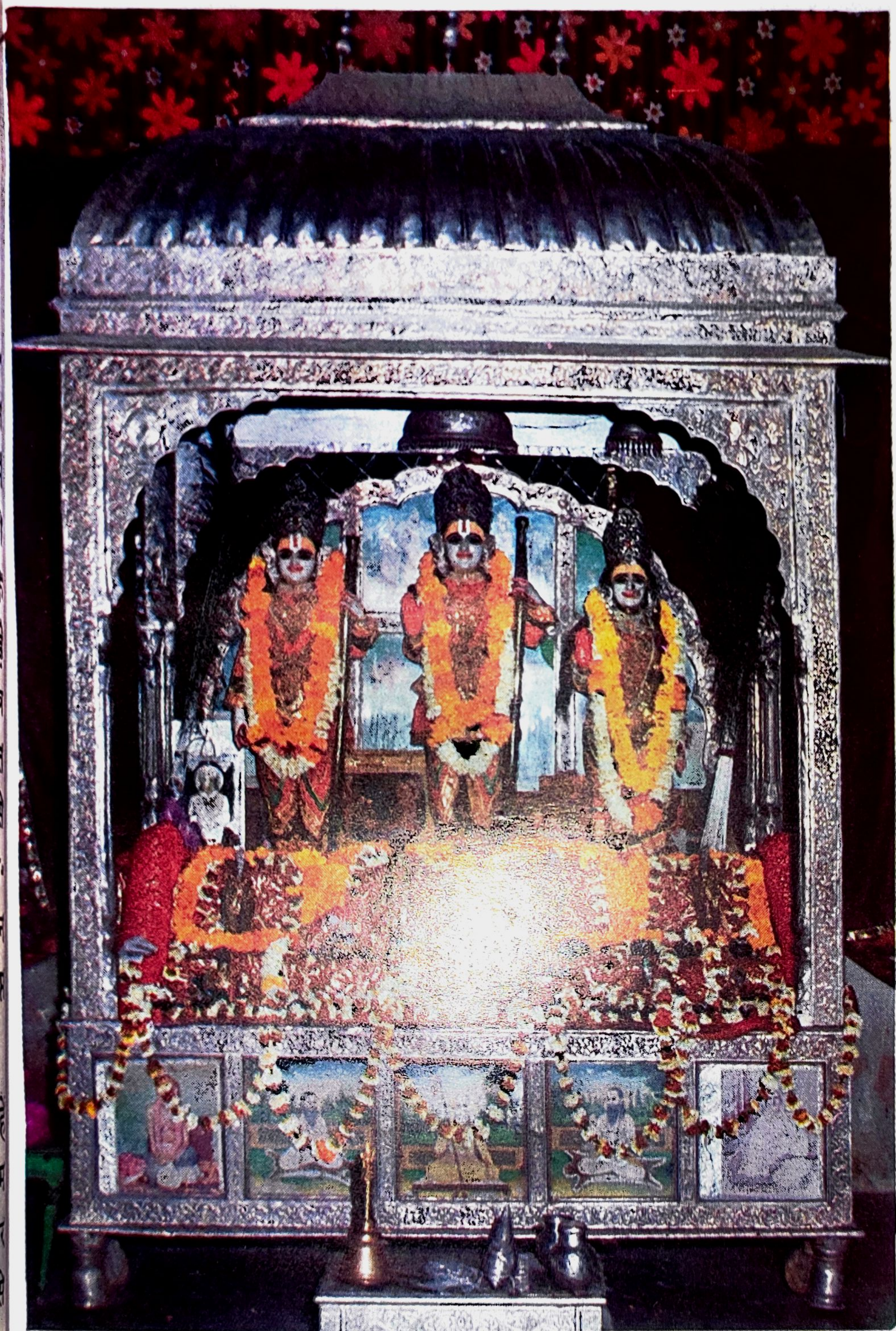
●

श्रीमद अग्रदेवाचार्य महाराज का
संक्षिप्त जीवन चरित्र

[लेखक-श्रीरामकृपालदासजी चित्रकूटी]

श्रीरामानन्द सम्प्रदायमें शृङ्गाररसके परमाचार्य श्रीअग्र-देवाचार्यजीका जन्म फाल्गुन शुक्ल २, वि० सं० १५५३ के दिन राजस्थानके ग्राममें ब्राह्मण कुलमें हुआ। सं० १५७१ में गृह त्याग कर जयपुर गालवाश्रम (गलता) में विरामान पयोहारी श्रीकृष्णदासजी महाराज की शरणमें आ गये। दीक्षा-संस्कारके उपलक्ष्यमें गुरुदेव की आज्ञासे राजा पृथ्वीराजने बहुत बड़े उत्सवका आयोजन किया। श्रीपयोहारीजीने संकल्प मात्र से दशो दिशाओंके गुप्त प्रकट सभी सिद्धों-सन्तोंको निमन्त्रित किया। वेद पाठ, मङ्गलगान वाद्यके साथ भोजन-पानादिसे सबका यथोचित सत्कार हुआ। सभीने श्रीअग्रदासजीको प्रेमा-भक्तिका अमोघ आशीर्वाद दिया। निरन्तर साधनामें तल्लीन रहकर गुरुकृपासे आपने अनेक सिद्धियां एवं ज्ञान-भक्तिको प्राप्त कर विश्व-कल्याण किया।

दीन, हीन, अन्धे बालकके रूपमें श्रीनाभाजी मिले। उन्हें नेत्र ज्योति, पंच-संस्कारसे सम्पन्न कर नारायणदास यह नाम दिया और सन्तसेवामें नियुक्त किया। पुनः समर्थ देखकर भक्तमाल रचना की आज्ञा दी। श्रीअग्रदेवाचार्य की कृपासे श्रीनाभाजीकृत भक्तमाल ग्रन्थ विशुद्ध भक्तिको देने वाला है। कालान्तरमें आप रैवासा पधारे। पर्वत की तलहटीमें एक पीपलके नीचे बैठकर कठोर तपस्या करने लगे। उस समय वहाँ जलका



श्री अग्रदेवाचार्य जी के आराध्यदेव श्री जानकीनाथ भगवान

बहुत बड़ा अभाव था। प्रजा की प्रार्थना पर करुणावश आपने धरतीमें अपना चीमटा धँसाया तो तत्क्षण वहाँसे निर्मल-मधुर जलधारा प्रवाहित हो चली, वह स्थल पीठके पृष्ठ भागमें अद्यापि दर्शनीय है और आज भी उस ग्राममें जल सुलभ है।

वहीं पर आपने सियमनरञ्जनी सुन्दर वाटिका लगाई। आप उसीमें बैठकर मानसी पूजा किया करते थे। किसी समय जयपुर नरेश मानसिंह दस हजार सैनिकों समेत युद्ध यात्राके समय आपका दर्शन करने आया। आप वाटिका की सेवामें लगे थे। पत्ते फेंकने गये तो भीड़भाड़से बचनेके लिए आप वहीं ध्यानस्थ हो गये। राजा की प्रार्थना पर श्रीनाभाजी गये तो गुरुदेव की प्रेम-विभोरावस्थाको देखकर स्वयं भी स्तब्ध हो गये। नेत्रोंसे अश्रुधारा बहने लगी। बहुत देर तक प्रतीक्षाके बाद अकेले राजाने दोनों सन्तों की दिव्य दशाके दर्शन किये। राजा को प्रसाद देनेके लिए श्रीनाभाजी दस केले लाये। गुरुदेवने आज्ञा दी कि सबको दस-दस केले बांट दो। आज्ञानुसार दस हजार सैनिकोंको दस-दस केले बांटनेके बाद भी दस बच रहे। गुरु-शिष्य दोनों ही सिद्ध महापुरुष थे। अतः आश्चर्य की बात नहीं।

एकबार आप भक्ति-प्रचारार्थ सन्तों की जमात लेकर निकले। किसी भक्त सेठने एक माह सेवा की। प्रस्थानके समय उसके इकलौते पुत्रको सर्पने डस लिया। करुण-क्रन्दनसे दयार्द्र होकर आपने सन्त-चरणामृत पिलाकर बालकको जीवित कर दिया। इससे प्रजामें भक्त-भक्तिका विस्तार हुआ। एकदिन चलते-चलते शाम हो गई। जमातके ठहरने योग्य घोर वनमें स्थान नहीं मिला। सन्तोंको क्षुधित एवं तृषित देखकर श्रीअग्रदेवाचार्यको दुःख हुआ। उस क्षण कुछ दूर पर झोपड़ीमें दीपक

का प्रकाश दिखाई पड़ा। सन्तोंके समेत वहाँ जाकर देखा तो दिव्य आभायुक्त एक वृद्धा बैठी थीं, पासमें सरोवर और बगीचा भी था। वृद्धाने जलपान करने तथा फलाहार बनानेका आग्रह कर सामान दिया। भोग लगने पर स्वामीजीने कहा कि उस वृद्धाको भी प्रसाद दे आओ। जाकर सन्तोंने देखा तो, न तो झोपड़ी है, न वृद्धा माता। यह सुनकर आचार्यको खेद हुआ। माता जानकीका स्मरण कर रुदन करने लगे। तब माता श्रीजानकीजीने प्रकट होकर दर्शन, आश्वासन और आशीर्वाद दिया।

तत्कालीन बादशाह अकबर सन् १५६२ में अजमेर तीर्थका दर्शन करने आया। श्रीअग्रदेवाचार्य की कीर्ति सुनकर वह रैवासा गया। उस समय आप दातून कर रहे थे। बादशाहने पूछा और परिचय पाकर परीक्षार्थ किसी फकीरने कुएँ पर चद्दर बिछाई। चारों कोनों पर चार सुपारियाँ रक्खीं और नमाज पढ़ने लगा। श्रीस्वामीजीने निराधार आकाशमें आसन पर बैठकर दर्शन दिया। इससे प्रभावित होकर बादशाहने अनुनय विनय की और गोचारणके लिए १६०० बीघा भूमिका पट्टा दिया, जिसे गायों की गौर कहते हैं। कालान्तरमें वहाँ गौरियाँ स्थान बना। आप रसिकोपासनाके प्रवर्तक एवं श्रीचन्द्रकलाजीके अवतार माने जाते हैं। ३७ रामानन्दीय द्वारोंमें ग्यारहवाँ द्वारा (रैवासा) आज भी प्रसिद्ध है। आप हिन्दी साहित्यके महान् कवि थे। आपके द्वारा लिखित 'अग्रसागर' प्रसिद्ध है पर उसकी प्रति उपलब्ध नहीं है। राष्ट्रीय सन्त रामभक्त श्रीबलरामदासजी महाराज लोद्राके द्वारा संकलित १२९ पदोंका प्रकाशन 'श्रीअग्रदेवाचार्य भजन वाटिका' नामक ग्रन्थमें हुआ है। इसका प्रकाशन जयपुरसे वि०सं० २०४० में हुआ है। श्रीअग्रपीठसे श्रीअग्रचरितका प्रकाशन हुआ है।

प्रस्तुत अग्र-ग्रन्थावलीमें कुण्डलियां, भावार्थ और टिप्पणी के साथ प्रकाशित हैं, अष्टयाम पदोंका प्रकाशन द्वितीय भागमें है। पाठकवृन्द ! इस ग्रन्थका पठन-पाठन कर दिव्य सुख शान्तिका अनुभव करें और प्रचार-प्रसार कर भूले-भटकोंको सन्मार्ग प्रदर्शन करें।

श्रीअग्रदास हरिभजन बिन काल वृथा नहिं वित्तयो ॥
सदाचार ज्यौं सन्त प्राप्त जैसे करि आये ।
सेवा सुमिरन सावधान चरन राघव चित लाये ॥
प्रसिद्ध बाग सों प्रीति सुहथ कृत करत निरन्तर ।
रसना निर्मल नाम मनहुँ बरषत धाराधर ॥
श्रीकृष्णदास कृपा करि भक्तिदत्त मन बच क्रम करि अटल दयो ।
श्रीअग्रदास हरिभजन बिन काल वृथा नहिं वित्तयो ॥

(भक्तमाल छ० ४१)



प्रकाशकीय

श्रीअग्रदेवाचार्य पीठ रैवासा की साहित्यिक परम्परा हिन्दी साहित्य जगत् में अपना एक अनूठा स्थान रखती है। इस पीठके शिष्य परम्परामें परमपूज्य श्रीनाभादासजी महाराज हैं, जिनकी भक्तमाल की रचना को पढ़कर अखिल भारतीय धार्मिक जगत् कृत-कृत्य हो रहा है ।

श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के देदीप्यमान यशः सूर्य श्रीअग्र-देवाचार्यजी का साहित्यिक वाङ्मय इतना विशाल था कि लोग उस वाङ्मय को अग्रसागर के रूप में जानते थे । उनके पद कुण्डलियाँ एवं दोहे भगवान् की ऐसी रसमयी-उपदेशमयी भाव-नाओं से ओत-प्रोत हैं कि जिनको पढ़कर साधक समूह समस्त भ्रमों को नष्ट कर श्रीसीतारामजी की मधुर उपासना का अधिकारी बन सकता है।

रामानन्द सम्प्रदायान्तर्गत सैंतीस (३७) द्वारा पीठों में श्रीअग्रदेवाचार्यजी की शिष्य-प्रशिष्य परम्परा के लगभग तेरह (१३) द्वारे हैं। रामानन्द सम्प्रदाय का विशाल समूह श्रीअग्र-देवाचार्यजी की परम्परा से जुड़ा हुआ है। प्रायः सम्प्रदाय के निष्ठावान सन्तों में श्रीअग्रदेवाचार्यजी के रसमय पदों का रसास्वादन करने की अति उत्कण्ठा लिए सन्तों के शताधिक पत्र रैवासा पीठ में आते रहते हैं।

यद्यपि अयोध्या, वृन्दावन आदि से समय-समय पर स्वामीजी के पद प्रकाशित होते रहे हैं तथापि आचार्य पीठ रैवासा के पास जो पदों का संकलन उपलब्ध था वे प्रायः सभी पद प्रकाशित नहीं हो सके थे। अतः इन पदों का संकलन अग्र-ग्रन्थावली प्रथम व द्वितीय भाग एवं अग्रचरित के रूप में

आचार्य पीठ रैवासा से प्रकाशित हो रहे हैं। प्रथम भाग में श्री अग्रदेवाचार्यजी की उपदेशात्मक कुण्डलियों का संकलन है तथा द्वितीय भाग में अष्टयाम, ध्यान-मञ्जरी एवं आज तक के सम-उपलब्ध मूल पदोंका संकलन है, समय पर अव्याख्यात पदों की व्याख्यायें भी प्रकाशित करने का प्रयास किया जायेगा। इसी लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए श्रीअग्रदेवाचार्य पीठ रैवासा से फाल्गुन शुक्ला द्वितीया सं० २०५० को श्रीअग्रदेवाचार्य जयन्ती के पावन पर्व पर अग्र-ग्रन्थावली प्रथम व द्वितीय भाग एवं अग्रस्वामी चरित प्रकाशित हो रहा है।

इस प्रकाशन के सम्पादन का दायित्व श्रीरामानन्द पुस्तकालय सुदामाकुटी वृन्दावन के विद्वान् संत भक्तमाल के टीकाकार श्रीगणेशदासजी महाराज भक्तमाली ने स्वीकार कर रैवासापीठ के प्रति अपनी निष्ठा का अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है। मेरे वरिष्ठ गुरुभ्राता श्रीरामकृपालदासजी भक्तमाली का सहयोग भी अति सराहनीय है।

श्रीअग्रदेवाचार्यजी के द्वारा रचित आज तक के सम-उपलब्ध समग्रपदों को संकलन में सहयोगी डा० नरेशन्द्र वंशल कासगंज (उ० प्र०) एवं श्रीझाँझूदासजी महाराज की पावन परम्परा के रसिक भक्त श्रीसियाशरण शास्त्री हरसोली राजस्थान का सहयोग अत्यन्त प्रशंसनीय रहा है।

आचार्य पीठ रैवासा से प्रकाशित श्रीअग्रदेवाचार्यजी के समस्त पदों का भावुक संत-भक्त रसास्वादन करते हुए भगवद् उपासना पथ के श्रेष्ठ पथिक बन सकेंगे ऐसी सर्वाराध्य भगवान श्रीजानकीनाथ के चरणों में प्रार्थना है।

अग्रपीठाधीश्वर राघवाचार्य वेदान्ती
रैवासा–सीकर (राज०)

सम्पादकीय

करुणावरुणालय भगवान श्रीराम जब जगत्‌में वैष्णवधर्म का ह्रास देखते हैं तब उसका प्रचार-प्रसार करनेके लिए अपने निज-पार्षदोंको यहाँ भेजते हैं। गीतामें भगवानने ज्ञानी भक्तोंको अपना आत्मा कहा है 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।' जब धर्म की हानि और अधर्मका उत्थान होता है—'तदात्मानं सृजाम्यहम्।' तब मैं आत्मस्वरूप महाभागवतोंको प्रकट करता हूँ। इस प्रकार प्रभुकृपासे भागवतोंका प्राकट्य होता है। जब मुगल साम्राज्यका बोलबाला हुआ तो उनके द्वारा उस समय सनातन वैदिक हिन्दू वैष्णव-धर्मको सर्वथा निर्मूल करनेके लिए अनेक षड्यन्त्र रचे गये। भारतीय संस्कृतिके ऊपर चारों ओरसे भयङ्कर आक्रमण होने लगे। उस समय अनेक सिद्ध-सन्त भारतीय संस्कृति की रक्षाके लिए प्रभुने प्रकट किये। उन्हींमेंसे एक महान् सिद्ध प्रसिद्ध सन्त श्रीअग्रदेवाचार्यजी हुए। उन्होंने अपने प्रभावसे भागवत धर्म की रक्षा की। अनेक हिन्दी, संस्कृत ग्रन्थों की स्वयं रचना की एवं अपने प्रमुख शिष्य श्रीनाभाजीके द्वारा श्रीभक्तमाल की रचना कराई। जो भक्ति साहित्याकाशमें सूर्यके समान देदीप्यमान है।

उनकी रचनाओंमें कुण्डलिया छप्पय साहित्य जगत्‌में अति आदरित हुए। इनमें सत्य, सदाचार, सिद्धान्त, ज्ञान, वैराग्य एवं श्रीहरिभक्तिका सुन्दर निरूपण है। लोकमें प्रचलित लोकोक्तियों, दन्तकथाओं और दृष्टान्तोंके द्वारा वर्ण्य विषयको इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि कहने, सुनने, पढ़नेमें मन ऊबता नहीं है। अलङ्कारिक भाव-भाषासे युक्त यह एक स्फुट काव्य है। इसमें राजस्थानी भाषाका विशेष प्रभाव है। इसके पठन-मननसे साधकोंको अर्थपञ्चकका बोध होता है। जिससे साधन पथ पर चलनेमें कठिनाई नहीं होती है। सभी शंकाओंके समाधानके साथ रसिकोंको रसका आस्वादन होता है।

भक्तवर श्रीकोदौरामजी की कृपासे ७२ छन्दोंको प्राप्तकर खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बईने सं० १९५४ में इसे प्रकाशित किया। सं. १९९१ में श्रीराजकिशोरीवरशरणजीने सं. १९९१ वि. में आत्मानन्द प्रदर्शक नाम की टीका की। उसका प्रकाशन पं० श्रीमदनगोपालजी शुक्ल छतरपुरने दो भागोंमें किया। पुनः २०४४ वि० सं० में श्रीरामानन्द पुस्तकालय श्रीवृन्दावनने एक ही भागमें उसे छपाया। अब वि० सं० २०५० में श्रीअग्र-जयन्ती के शुभ अवसर पर श्रीअग्र-ग्रन्थावली दो भागोंमें प्रकाशित हो रही है। प्रथम भागमें ७६ कुण्डलिया, छप्पय हैं। दूसरेमें १८३ पद अग्र-अष्टयामके हैं इसीके साथ श्रीअग्रचरित एवं रैवासा इतिहास का भी प्रकाशन श्रीराघवाचार्यजी वेदान्ती अध्यक्ष-श्रीजानकीनाथ बड़ा मन्दिर ट्रस्ट रैवासा द्वारा हो रहा है। इस श्रीअग्र साहित्य के पठन-मननसे वैष्णवोंको परम सन्तोष होगा। अतीतकालमें जिन्होंने श्रीअग्र साहित्यका प्रकाशन किया वे धन्यवादके योग्य हैं तथा भविष्यमें जो करेंगे उन्हें धन्यवाद समेत ट्रस्ट यथेष्ट सहायता प्रदान करेगा। अग्र-अष्टयाम पदावलीमें आये पद रैवासा श्रीजानकीनाथ मन्दिर पुस्तकालयके हस्तलिखित ग्रन्थोंसे तथा डॉ० श्रीनरेशचन्द्रजी बंसल एवं श्रीसियाशरणजी शास्त्री हरसौलीके संग्रहसे लिए गये हैं। डॉ० श्रीबंसलजी खोजमें संलग्न हैं। भविष्यमें 'अग्रसागर' के रूपमें सभी कृतियां प्रेमी पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत होंगी।

श्रीजानकीनाथजीका शीशमहल बन गया। जो परम रमणीय एवं दर्शनीय है। श्रीभक्तमाल शिलालेख आदि ट्रस्ट की पुनीत योजनायें हैं जो सन्त भगवन्त की कृपासे पूर्ण होंगी। भगवान श्रीजानकीनाथजी ट्रस्टके अध्यक्ष एवं सदस्यों पर कृपा-दृष्टि बनायें रक्खें। इनके सत्प्रयत्नोंसे विश्वका कल्याण हो।

गणेशदास 'भक्तमाली' सुदामाकुटी, वृन्दावन

श्रीस्वामी जगद्‌गुरु १००८ श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज श्रीप्रयाग क्षेत्रमें सं० १३५६ वैं० माघ कृष्णा ७ सिद्धयोग चित्रा नक्षत्र कुम्भ लग्नमें साक्षात् श्रीरामचन्द्रजी ही अवतीर्ण हुए।

श्रीरामानन्दजी महाराजके द्वादश प्रधानशिष्योंके नाम तथा जन्मतिथि

अवतार	नाम	जन्मतिथि	दिन	लग्न	नक्षत्र
श्रीब्रह्माजी-	श्रीअनन्तानन्दजी	कार्तिक पू. १५	शनि	धन	कृत्तिका
श्रीनारदजी-	श्रीसुरसुरानन्दजी	वैशाख कृ० ९	गुरु	वृष	शतभिषा
श्रीशंकरजी-	श्रीसुखानन्दजी	वैशाख शु० ६	शुक्र	तुला	शतभिषा
श्रीसनत्कुमारजी-	श्रीनरहरियानन्दजी	वैं कृ. ३	शुक्र	मेष	अनुराधा
श्रीकपिलदेवजी-	श्रीयोगानन्दजी	वैशाख कृ० ७	बुध	कर्क	मूल
श्रीमनुजी-	श्रीपीपाजी	चैं० पू० १५	बुध	धन	उ० फा०
श्रीप्रह्लादजी-	श्रीकबीरजी	चैत्र कृ० ८	मंगल	सिंह	मृगशिरा
श्रीजनकजी-	श्रीभावानन्दजी	वै०कृ० ६	सोम	कर्क	मूल
श्रीभीष्मजी-	श्रीसेनभक्तजी	वै०कृ०१२	रवि	तुला	पूर्वा
श्रीबलिराजा-	श्रीधना (जाटजी)	वै०कृ०८	शनि	वृश्चिक	पूर्वाषाढ़
श्रीशुकदेवजी-	श्रीगालवानन्दजी	चैत्र कृ० ११	सोम	धन	धनिष्ठा
श्रीयमराज-	श्रीरैदास (रमादासजी)	चैत्र शु० २	शुक्र	मेष	चित्रा



हिन्दू धर्मोद्धारक जगद्‌गुरु स्वामी श्री रामानन्दाचार्य जी महाराज

विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें ईश्वर, जीव और माया ये तीन तत्व माने जाते हैं। ये तीनों तत्व नित्य और सत्य हैं। ब्रह्म सगुण और सविशेष है, समस्त हेयगुणोंसे सर्वथा रहित एवं अनन्त कल्याण गुणगण महार्णव है, ज्ञानानन्दस्वरूप है, सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है। ब्रह्म ही जगत्का निमित्त कारण और उपादान कारण भी है। इसके प्रतिपादनके लिए मकड़ीसे जाल की उत्पत्तिका दृष्टान्त दिया जाता है। जीव चित्स्वरूप, सुखस्वरूप, निर्मल, निर्विकार अणु एवं अनन्त हैं। यह ईश्वरका नियम्य है, धार्य है, शेष है, सदा ईश्वर परतन्त्र है तथा कर्मोंका कर्ता-भोक्ता है। माया त्रिगुणात्मिका अर्थात् सत्व-रज-तमोगुणमयी है। यह अनेक प्रकारके विकारोंको उत्पन्न किया करती है। चिदचिदात्मक यावत् प्रपंच ब्रह्मके शरीरभूत हैं। ब्रह्मसे पृथक् इनकी सिद्धि नहीं है। इनका ब्रह्मके साथ अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है। शरीरमें जीव की सत्तासे जैसे शरीर की स्थिति है वैसे ही परमात्मा की सत्तासे ही चित् (जीव) अचित् (प्रकृति) की स्थिति है।

परब्रह्म सब पदार्थोंके अभ्यन्तर रहकर उनका नियमन करता है। ब्रह्मका शरीर होनेसे चिदचिद् ब्रह्मके विशेषण हैं और ब्रह्म इनका विशेष्य है। इसीसे ब्रह्मको चिदचिद् विशिष्ट भी कहते हैं। सृष्टिके पूर्व प्रलयकालमें चित् (जीव) और अचित् 'प्रकृति' दोनों ही सूक्ष्म अवस्थामें रहते हैं। इसी सूक्ष्मावस्थाको कारणावस्था कहते हैं। सृष्टिकालमें दोनों स्थूलावस्थाको प्राप्त

होते हैं। यही स्थूलावस्था कार्यावस्था भी कहलाती है। कारणावस्थापन्न सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्मका कार्यावस्थापन्न स्थूल चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्मसे अभेद है, अद्वैत है। इसीसे इस सिद्धांतको 'विशिष्टाद्वैत' कहते हैं। इस सिद्धांतमें भगवत्-प्राप्तिका सर्वोत्कृष्ट उपाय भक्ति है और भगवद्धाममें भगवानके चिरदासके रूपमें अनन्त आनन्द की प्राप्ति ही परमश्रेय है। इस सिद्धांतके प्रथम विवृत्तिकार भगवान बोधायनाचार्यजी हैं तथा प्रवर्तक आचार्यद्वय-श्रीरामानुजाचार्यजी एवं श्रीरामानन्दाचार्यजी हैं। श्रीभाष्य एवं आनन्दभाष्य इनके भाष्य ग्रन्थ हैं। इन दोनों आचार्योंके सिद्धांत एक होनेसे ही दोनोंका एक ही सम्प्रदाय 'श्रीसम्प्रदाय' है एवं एक ही सिद्धांत 'विशिष्टाद्वैत-सिद्धांत' है। अन्तर केवल इतना है कि श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजीके रूपमें श्रीवैकुण्ठाधिपति श्रीपति भगवान श्रीमन्नारायणका प्रतिपादन किया है और श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजीने श्रीसाकेताधिपति श्रीसीतापति भगवान श्रीरामचन्द्रजीका प्रतिपादन किया है। विद्वज्जगत्में दोनों की प्रतिष्ठा है। सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय वाराणसीमें श्रीरामानुज वेदान्त और श्रीरामानन्द वेदान्त दोनों की परीक्षायें होती हैं। दोनों सम्प्रदायोंके अनुयायी श्रीबाल्मीकि रामायणको गेयके रूपमें स्वीकार करते हैं और विभीषण शरणागतिको महत्व देकर भगवान श्रीराम की शरणागति करके परमानन्दको प्राप्त करते हैं।

●

अथ सुरसुरानन्द कृत प्रश्नस्योत्तरम्

[मुक्तिसाधन-पंचसंस्कार-प्रकरणम्]

श्रीरामानन्द उवाच

एवं तेऽभिहितं ध्यानं शृणु तन्मुक्तिसाधनम् ।
मुमुक्षूणां परं वेद्यं विधेयं प्रिय सर्वदा ॥१

इस प्रकारसे मैंने तुम्हें ध्यान कहा । अब मुमुक्षुजनोंको जानने और सर्वदा अनुष्ठान करने योग्य मुक्तिके साधनको सुनो ॥१॥

तप्तेन मूले भुजयोः समङ्कनं शरेण चापेन तथोर्ध्वपुण्ड्रकम् ।
श्रुतिश्रुतं नाम च मन्त्रमालिके संस्कार भेदाः परमार्थ हेतवः ॥२

भुजाओंके मूलमें तप्त बाण और धनुषका अंकन, ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक नाम, मन्त्र और मालिका (श्रीतुलसी कण्ठी) ये पाँच प्रकारके संस्कार परमार्थ (मोक्ष) के कारण हैं ॥२॥

परीक्ष्य शिष्यं समुपासकं गुरुर्वर्षं समभ्यचर्य च वह्निदेवताम् ।
चापादिभिर्हेतिवरैः सुतापितैर्दिने सुपुण्ये नियतः समङ्कयेत् ॥३

समाहित चित्त गुरु, सद्भावसे गुरु और भगवान की उपासना करने वाले (निष्ठा आदिसे युक्त) शिष्यको १ वर्ष परीक्षा करके तपाये हुए धनुष् और बाण आदि भगवदायुधोंसे पवित्र दिनमें अङ्कित करे ॥३॥

तथोर्ध्वपुण्ड्रं सुमृदा विधाय वै रामादि दासान्तमथो समुच्चरेत् ।
मन्त्रंतथैवोपदिशेद्विधानतोमालां वरां तां तुलसीसमुद्भवाम् ॥४

पश्चात् सुन्दर मृत्तिकासे उर्ध्वपुण्ड्र (तिलक) लगाकर रामादि भगवत् नामपूर्वक दासपद नाम कहे, विधिपूर्वक मन्त्रका उपदेश करे और तुलसी की माला (कण्ठी धारण करावे ।।४।।

एवं महान् भागवतः सुसंस्कृतो श्रीरामभक्ति विदधात्वहर्निशम् ।
महेन्द्र नीलाश्मरुचेः कृपानिधेः श्रीजानकी लक्ष्मण संयुतस्य वै ।।५

इस प्रकारसे पंच-संस्कारों द्वारा संस्कृत हो, महाभागवत बनकर, प्राणप्रिया श्रीजानकीजी और श्रीलक्ष्मणजी सहित महाइन्द्रनीलमणिके समान श्यामकान्ति वाले कृपानिधान श्रीरामजी की अहर्निश भक्ति करे ।।५।।

[पराभक्तिलक्षणम्]

उपाधि निर्मुक्तमनेक भेदकं, भक्तिः समुक्ता परमात्म सेवनम् ।
अनन्य भावेन मुहुर्मुहुः सदा, मर्हर्षिभिस्तैः खलु तत्परत्वतः ।।६

परम भक्तिरसरसिक विद्वद्वर्य महर्षियोंने, अनन्य भावसे तत्परताके साथ छल, कपट, प्रपंच आदि उपाधियोंसे रहित परमात्मा सनातन श्रीरामजी की सदा सेवाको ही पुनः-पुनः भक्ति कहा है ।।६।।

[पराभक्तिसाधनम्]

सा तैलधारासम नित्य संस्मृतिः सन्तान रूपेशि परानुरक्तिः ।
भक्ति विवेकादिक सप्त जन्या तथा यमाद्यष्ट सुबोधकाङ्गा ।।७

वह तैलधाराके समान अविच्छिन्न (दर्शन समानाकारा अनुस्मृतिरूपा) भगवान की भक्ति विवेकादि साधन सप्तकसे प्रकट होती है और यमादि आठ अंगों वाली परज्ञानरूपा है ।।७।।

आनन्द भाष्यकार भगवान श्रीरामानन्दाचार्यजीका श्लोक आपके १४ पीढ़ी पूर्वके पूर्वाचार्य, विशिष्टाद्वैत वेदान्तके आद्याचार्य भगवान वेदव्यासजीके प्रशिष्य, भगवान बोधायन श्रीपुरुषोत्तमाचार्यके उस अभिमतका अक्षरशः अनुसरण करता है जो उनने अपनी बोधायनवृत्तिमें ब्रह्मसूत्रके प्रथमसूत्र की व्याख्यामें व्यक्त किया है।

अर्थात् वह अविच्छिन्न तैलधारावत् दर्शन समानाकारा अनुस्मृति (जिसका नाम पराभक्ति है) इन विवेक आदि ७ साधनों से प्राप्त होती है। आगे उन ७ साधनोंको समझते हैं।

१. जातिदूषित (प्याज लहसुन ग्रञ्जन कुलञ्जन एवं तामसी पदार्थ) आश्रयदूषित (असत्य हिंसा आदिके आश्रयसें प्राप्त) और निमित्तदूषित (नखलोमादि असत् पदार्थोंके संसर्गसे एवं श्राद्धादि संकल्पके) अन्नसे बचकर शरीरको शुद्ध रखनेको विवेक कहते हैं।

२. असत् कामनाओंके आधीन न होना विमोक कहाता है।

३. अष्टयाम सेवादिका निरन्तर संशीलन अभ्यास है।

४. पंचमहायज्ञादिके यथाशक्ति नित्य अनुष्ठानका नाम क्रिया है।

५. सत्य आर्जव दया, दान, अहिंसा अनभिध्या कल्याण हैं।

६. देशकालादि की विषमताजन्य मनोमालिन्यके न होने को अनवसाद कहा है।

७. देशकालादि की अनुकूलताजन्य हर्षका न होना अनुद्धर्ष कहलाता है।

यह साधन सप्तक पराशक्तिका प्रादुर्भाव करने वाला है और यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि ये ७ साधन भक्तिके अङ्ग हैं ।

[नवधाभक्तिवर्णनम्]

उदारकीर्तेः श्रवणं च कीर्तनं हरेर्मुदा संस्मरणं पदश्रितिः ।
समर्चनं वन्दनदास सख्यकान्यात्मार्पणं सा नवधेति गीयते ॥८

महान् कीर्ति वाले भगवान श्रीरामचन्द्रजी की कथा श्रवण, नाम कीर्तन, उनके रूप एवं गुणका स्मरण, चरण सेवन, पूजा, वन्दन, दासता, सख्यभाव और आत्मनिवेदन ये नवधा-भक्ति कही गई हैं ॥८॥

[एकादशीव्रतनिर्णयम्]

एकादशीत्यादि महाव्रतानि च कुर्याद्विवेधानि हरिप्रियाण्यथ ।
विद्धा दशम्या यदि साऽरुणोदये सद्द्वादशीं तूपवसेद्विहायताम् ॥६

भगवानको प्रसन्न करने वाले वेधरहित एकादशी आदि महान् व्रत भी मुमुक्षुओंको करने चाहिए । एकादशी अरुणोदय-कालमें दशमीसे विद्धा हो तो उसे छोड़कर द्वादशीका व्रत करे ॥६

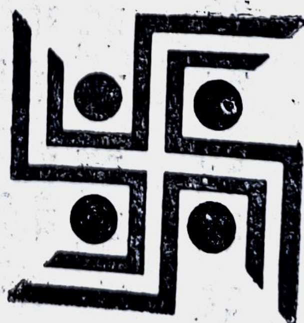
शुद्धा दशम्या सुयुतेति भेदत एकादशी सा द्विविधा च बुध्यताम् ।
वेधोऽपि बोध्यो द्विविधोऽरुणोदये, सूर्योदये वा दशमी प्रवेशतः ॥१०

शुद्धा और दशमीसे विद्धा इन दो भेदोंसे एकादशी दो प्रकार की जानो । ऐसे ही, अरुणोदयकालिक एवं सूर्योदयकालिक दशमीके प्रवेशसे वेध भी दो प्रकारके होते हैं ॥१०॥

अनुक्रमणिका

पद सं०	कुण्डलियां	पृष्ठ
	भूमिका	३
	श्रीअग्र परिचय	१६
	प्रकाशकीय	२०
	सम्पादकीय	२२
	द्वादश भागवत जन्मतिथि	२४
	विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त	२५
	सुरसुरानन्द प्रश्नोत्तर	२७
	अनुक्रमणिका	३१
१	अंधा बांटै जेबरी	३४
२	महतों दुरो पुवारमें	३७
३	मार बफाती खेचरी	३९
४	आग लगंते झोपड़ा	४१
५	बीतो ब्याह कुम्हारको	४३
६	गुड़ जाने के कोथरा	४५
७	गाडर आनी ऊन को	४८
८	सौ गाहै सूवा पढ़ै	५०
९	नदी किनारे रूखड़ा	५३
१०	घरसे मिया निकासिया	५४
११	भैंटो चहे बुनावनो	५७
१२	ढाक चढ़त बारी गिरै	५९
१३	सूने घर को पाहुनो	६१
१४	सोई नार सतेवरी	६३
१५	डोकर मरै न खीझिये	६६
१६	जोगी था सो रम गया	६९
१७	पूज न सके कुम्हार	७३
१८	प्रीतम बात न बूझई	७८
१९	कोऊ काहू को नहीं	८१
२०	जैसे कन्ता घर रहे	८५
२१	रानी राय श्रृंगार पट	९०
२२	सखी पराये पीटने	९६
२३	भुस ऊपर को लीपनो	९९
२४	काजर सब कोउ देत है	१०३
२५	सुखसों सोच कुम्हार	१०५
२६	कूकर चौक चढ़ाइये	१०६
२७	कुबला पानी कृपण धन	११५
२८	जेहि घर जितो बधावनो	११९
२९	काहे ऊपर तत्तो पानी	१२१
३०	ले परोसिन झोपड़ी	१२५
३१	घर की दाढ़ी बन गई	१३१
३२	सहज चलौंगी आपनी	१३६
३३	कुतिया चोरन मिलि गई	१३८
३४	भोजन पीछै अचवन	१४१
३५	अन्ध यवन फूटी मसिद	१४५
३६	गंग कठौती मांझ है	१४८
३७	कंडी मार चिठौरा चूके	१५४
३८	खटिया टूटे भू शरण	१५८
३९	बैठी रांक बजार में	१६१
४०	पांचे बीते पख गये	१६५

पद सं०	कुण्डलियां	पृष्ठ
४१	शशा अँधेरी छोड़ दे	१७०
४२	जगत शीतला डोलियां	१७१
४३	नकटी प्यादो चूनरी	१७३
४४	जो दिन जाय अनन्दमें	१७६
४५	इक द्वै-द्वै अरु चूपरी	१८४
४६	नासह देशी रूखरा	१८७
४७	जो आपुहिं न सुहाय	१८९
४८	डूंगर की कह देखिये	१९१
४९	बनिक हाट बैठन न दे	१९३
५०	मँहती करे बधावनो	१९६
५१	बहुत गई थोरी रही	१९८
५२	सबै सयाने एक मत	२०१
५३	हरि सनमुख सुख पाइये	२०५
५४	धोबी बेटा चाँद सो	२१६
५५	कूवामें को मेढुका	२१८
५६	माँगै भैंस रुगावनी	२२१
५७	गई बात रे पाहुने	२२४
५८	थारा घालो घर गयौ	२२६
५९	हा-हा करे न छूटिये	२२९
६०	छेरी लातन मारई	२३३
६१	ज्यौं-ज्यौं भीजे कामरी	२३५
६२	आपुन जाय न सासुरे	२३७
६३	कंथा डारी कांध पर	२३९
६४	तेरे हू दिन वाह रे	२४१
६५	निद्रा छायी झोपड़ा	२४[illegible]
६६	आकासै बिजली छिबै	२४[illegible]
६७	रामचरन तजि आन रति	२५[illegible]
६८	पानीमें धन नीकसे	२५३
६९	मांगे मान न पाइये	२५६
७०	अपने मां डायन कहे	२५८
७१	उपखाने उपदेश हित	२६०
७२	सदा न फूलै तोरई	२६२
७३	रस सिंगार अनूप	२६५
७४	हरिसुजस प्रीति	२६७
७५	गुरुन विषै नर बुद्धि	२७०
७६	कविजन करत	२७३





श्रीरामभक्ति में मधुरोपासना के प्रवर्तक एवं रैवासा पीठ के
संस्थापक जगद्‌गुरु स्वामी श्री अग्रदेवाचार्य जी एवं
श्रीनाभा जी महाराज

❀ श्रीसीताराम चरणकमलेभ्यो नमः ❀

श्रीअग्र-ग्रन्थावली

[आत्मानन्द–प्रदर्शक]

❀ मङ्गलाचरण ❀

❀ दोहा ❀

श्री पैहारी शिष्यवर अग्र स्वामि महाराज ।
जानकीवल्लभ रहस के रसिक परम सिरताज ।।

तिन कुण्डलियां पाय वर भयौ हृदय सुखभूरि ।
ज्ञान विरति हरि भक्तिमय जिवन सजीवन मूरि ।।

❀ छप्पय ❀

श्रीसीतावर स्वामि सन्त सज्जन हितकारी ।
शमन सकल सन्ताप दोष दुःख भंजन भारी ।।

करुणाकर सुखदानि शिरोमणि श्याम सियावर ।
प्रणतपाल प्रणपाल प्राणपति मीत परमपर ।।

जय 'अग्रस्वामि' गुरु सन्तजन गणप गिरा दृढ़भक्ति भल ।
बुधि देह पूर्ण हो निरविघन तिलक कुंडलि छप्पय अमल ।।

कुण्डलिया–छप्पय

अन्धा बाटै जेवरी पीछे बाछा खाय ।
पीछे बाछा खाय कहत गुरु शिष्य न मानै ।
ज्ञान पुराण मसान छिनक महँ धर्म भुलानै ।
बुरौ विप्र लौं रीति मृतक धन लेत न लाजै ।
नीच न सूझै मीच फिरत विषयन के काजै ।
'अग्र'जीव अन्धा तलो बँधे सो करे उपाय ।
अन्धा बाटै जेवरी पीछे बाछा खाय ।।१।।

शब्दार्थ—बाटै=बनाना, बटना । जेवरी=घास की रस्सी व जीवन । बाछा=बच्छा । मृतक धन=जो द्रव्य मरते समय व मरणान्तर दान किया जाय । मीच=मृत्यु । तलो=तब तक व तले (अन्तर) के ।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे कोई अन्धा मनुष्य आगे-आगे घास की रस्सी बटकर बनाता जाये और पीछे-पीछे उस रस्सी (जेवरी) को कोई बच्छा खाता जाये, तो उस अन्धेके हाथ कुछ नहीं लग सकता । उसका सारा-श्रम व्यर्थ ही हो जाता है । वैसे ही—

(दार्ष्टान्त)—अज्ञानी जीवरूपी अन्धा (ज्ञान वैराग्यरूपी हृदय नेत्रोंसे रहित) अभिमान सहित सुकृत करता हुआ, निज मुखसे कहता है जिससे वे बढ़नेके अतिरिक्त घटते जाते हैं क्योंकि उन सुकर्मोंको अभिमानरूपी बच्छा खाता जाता है ।

इसी अभिमानके कारण, यह जीवरूपी शिष्य, श्रीगुरुरूप प्रभुकी शिष्यता को ग्रहण न करते हुए, उनके कहने को

नहीं मानता है, जो सब जगहसे अर्थात् सृष्टिके प्रत्येक अङ्गसे (यानी वेद, पुराण, शास्त्र कवि, कोविद, सन्तादि द्वारा) अपने जीवरूपी शिष्यको धर्म, ज्ञान अरु वैराग्यादिका सदैव सद्‌उपदेश किया करते हैं। इसको थोड़ी देरके लिए मरघटिया व पौरानियाँ ज्ञान-सा होता है, परन्तु तुरन्त ही भूलकर फिर पूर्व की भाँति यह अविद्या मायामें पड़कर धर्म भूल जाता है। अतः इसको अहङ्कार विषयसे दृढ़-धर्मका ज्ञान नहीं होने पाता है।

जैसे जगत्‌में महा-ब्राह्मण की रीति है कि वह महानीच मृतकदान लेनेमें भी लज्जित नहीं होता है—कि मैं कितनी उच्चकोटि की जातिका होकर कितना नीचकर्म (मृतकदान लेना) करता हूँ इसका मुझे आगे क्या फल मिलेगा इत्यादि। इसी प्रकार यह जीव इतनी उच्चकोटिका है कि ईश्वरका अंश होकर भी, नीच इन्द्रिय विवश हो, विषयोंके लिए इधर-उधर भटकता (भड़भड़ाता) फिरता है। इसे अपनी मृत्यु नहीं सूझती है।

श्रीअग्रस्वामीजी महाराज कहते हैं कि—ये जीव जब तक ज्ञान-वैराग्य नेत्रहीन है तब तक इससे ऐसे ही कर्म बनते हैं, जिससे कि ये पापरूपी कर्म-बन्धनमें बाँधा जाय। अर्थात् ज्यों-ज्यों यह अपने जानमें छूटनेका उपाय करता है त्यों-त्यों और ही बँधता जाता है जैसे कि श्रीगोस्वामीजीने लिखा है—'श्रुति पुराण बहु कहे उपाई। छूट न अधिक अधिक उरझाई॥' क्योंकि यह अहङ्कार छोड़ ज्ञान-वैराग्य नेत्र प्रदाता किसी सद्‌गुरु की शरणमें होना चाहता नहीं इससे इसके सब सुकर्म अफल हो जाते हैं।

क्योंकि जो सद्‌गुरु किये बिना सुकृत किये जाते हैं, उनका कोई फल नहीं होता है। जैसे कि—'अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जप

पूजादिकाः क्रियाः । न फलन्ति प्रिये तेषां शिलायामुप्त बीजवत् ।
(वृद्धहारीतिस्मृति)

टिप्पणी—ज्ञान, पुराण, मसान—पुराणियां तथा मरघटिया ज्ञान ।

पुराणिया ज्ञान—प्रातः देखा जाता है कि कथा होनेके समय कथा कहने व सुनने वालोंको, कुछ ज्ञान-सा होता है । परन्तु कुछ देर ही के बाद कथा हो चुकने पर वह फिर विस्मरण हो जाता है, क्योंकि श्रोता तथा वक्ता उस कथामें निकले हुए तत्वों तथा उपदेशोंको, आचरणमें लानेके विचारसे, याद नहीं रखते ।

मरघटिया ज्ञान—जब जीव मर जाता है तो लोग उसे मृतक देखकर तथा श्मशान भूमिमें जलता हुआ देखकर प्रायः कहा करते हैं कि, 'सचमुच इस संसारमें कुछ भी सार नहीं है। एकदिन हमको भी इसी तरह मरकर ऐसे ही जल जाना होगा। इससे माया छोड़ भजन करना ही सार है इत्यादि' यह उपरोक्त ज्ञान उनके, हृदयमें तब तक ही उथल-पुथल मचाये रहता है जब तक वे अपने घर पहुँचकर धंधेमें नहीं लग जाते । अतः यह भी थोड़ी ही देर रहने वाला हुआ ।

टिप्पणी—इस कुण्डलियाका दूसरा अर्थ—जीव, जीवनकाल, पर भी घटित हो सकता है, कि यह जीवरूपी अन्धा (अज्ञानी) जीवनरूपी रस्सी बटता है और यह नहीं देख रहा है कि पीछे-पीछे इस रस्सीको कालरूपी बच्छा खा रहा है । इत्यादि, शेष वहीं जानिये ।

❀

महतों दुरो पुआर में को कहि बैरी होय।
को कहि बैरी होय जीव माया में राच्यो।
हरि हीरामणि त्याग वृथा काँचहि मन माच्यो।
मृगतृष्णा संसार अमरपुर लौं जो धावै।
सीतापति पद विमुख सुक्ख सपनेहुँ नहिं पावै।
'अग्र' झूठी कहै तो हिय नैननि जोय।
महतों दुरो पुआर में को कहि बैरी होय ।।२।।

शब्दार्थ—महतों=मुखिया। पुआर=पुवार व पियाँर राच्यो=संलग्न। हिय नैननि=हृदयके नेत्र (ज्ञान-वैराग्यमयी)

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीअग्रस्वामीजी एक ग्रामीण महतों (मुखिया) का दृष्टांत देते हुए कहते हैं, कि जैसे कोई गांवका महतों राज्य सिपाहीको देखकर (जो उससे राज्य-कर चुकाने व मालिकके समीप ले जानेको आता है) पियाँरमें छिप जाये, तो बतलाइये उसे बतलाकर कौन उसका शत्रु बने ?

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही शरीररूपी गांवका जीवरूपी महतों हरि, स्मरणरूपी कर न चुकानेके कारण सत्य, धर्मादिरूपी सिपाहीको देखकर, मायारूपी पियाँरमें छिप रहा है अर्थात् संलग्न हो रहा है, तो जिस प्रकार लोकमें महतोंको छिपा बतलाने वाला उसका शत्रु बन जाता है। उसी प्रकार जीवको यथार्थ उपदेश देकर, कौन उसका बुरा बने ?

उपदेश यह कि—हे जीव ! तू हरि स्मरणरूपी हीरामणि को छोड़कर, व्यर्थ असार मायारूपी काँचमें, क्यों मन लगा रहा है ? तू यह नहीं जानता कि संसार रवि जलवत् है। देवलोकसे ब्रह्मलोक तक भी यथार्थ सुख-प्राप्ति नहीं है। तिसमें तू बिना

ज्ञान-वैराग्यके मृग-तृष्णामें ही भ्रमा करता है, क्योंकि श्रीसीतापति पादपद्मोंसे विमुख हो, इस जीवको जागृत की तो बात ही क्या, सपनेमें भी कहीं तीनों कालमें सुख-प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः हे जीव ! तूं माया, मोह, त्यागकर ईश्वरका भजन कर इत्यादि।

श्रीस्वामीजी कहते हैं कि यदि मैं इसमें जरा भी झूंठ कहता हूँ, तो तूं अपने ज्ञान, वैराग्यरूपी हृदयनेत्रों द्वारा जांच कर सकता है, कि यह बात कितनी सत्य है। परन्तु यह उपदेश अथवा इस प्रकारसे कहना, जीवको भला प्रतीत नहीं होता है तो फिर उससे ऐसा कहकर क्यों कोई बुरा बने ?

टिप्पणी—मृगतृष्णा संसार—जैसे प्यासका मारा हुआ मृग, मैदान की सूर्य किरणोंसे चमकती हुई बालूको जलाशयके समान देखकर वहाँ, पानी पीनेके लिए दौड़ता है। परन्तु जैसे-जैसे वह आगे उसे प्राप्त करनेके लिए दौड़ता जाता है वैसे-वैसे ही उसे वह धूल आगे-आगे जल-सी चमकती हुई दिखाई देती जाती है। इस प्रकारसे उसे थककर अन्तमें हताश होना पड़ता है। वैसे ही यह जीव संसारमें सुखके लिए मनमानी भड़भड़ाता हुआ फिरता है (दौड़ता है), और अन्तमें हताश हो जीवनसे हाथ धो बैठता है। इसके हाथ कुछ भी नहीं लग पाता है, क्योंकि जिसे यह सुख मानता है वह यथार्थमें सुख है ही नहीं।

टिप्पणी—को कहि बैरी होय—उपदेश देकर कौन शत्रु बने। शंका–तो क्या उपदेश देना ही नहीं चाहिए तो किसे देना चाहिए ? समाधान-उपदेश न दिया जाय, तो बड़ी-हानि संभव है क्योंकि यदि बड़ेजन उपदेश देकर न चेतायेंगे तो जीवका उद्धार कैसे होगा। अतः उपदेश किसे देना चाहिए।

श्रीचरणदासजी कहते हैं--

बिन बूझे उपदेश न दीजै। सच्चे गुरु की शिष सुन लीजै॥

और भी कहा है—

गूढ़हु तत्व न साधु दुरावै। आरत अधिकारी जहँ पावै॥

श्रीगोस्वामीजी—इत्यादि

अतः बूझने पर ही सन्त सज्जनजन सत् उपदेश देते हैं।

टिप्पणी—अमरपुर—इन्द्रपुरीको कहते हैं। परन्तु जहाँ देवता निवास करें वहीं अमरपुर है। अतः इन्द्रपुरीसे लेकर ब्रह्मलोक तक समस्त देवपुरियाँ ही हैं।

मार वफाती खीचरी ई घर आज न काल।
ई घर आज न काल धौरहर धूआँ कैसो।
तन तुषारको सार ताहि नर चिर करि वैसो।
सपने सोनो पाय कृपणता कर धन जोर्‍यो।
पुनि जागे ते प्रात कहो काको ऋण तोर्‍यो।
ज्यों पीसंती चाकिया 'अग्र' सो उत्तम चाल।
मार वफाती खीचरी ई घर आज न काल॥३॥

शब्दार्थ—वफाती=जिसमें गर्म-गर्म बाफें निकल रही हों व ताजी। धौरहर=वमंडल अथवा बादल। तुषारको सार= ओला। उत्तम चाल=सर्व सुगम पथ, सर्वोत्कृष्ट आचरण, धारणा।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि, गर्म-गर्म जिससे बाफें निकल रही हैं ऐसी (बफाती) खिचड़ीको अति

शीघ्रतापूर्वक खा लेना चाहिए, क्योंकि आज तो इस घरमें है और कल न रहे, इसका क्या ठिकाना। अतः अवसरको न खो देना चाहिए।

(दार्ष्टान्त)–बफाती खिचड़ी श्रीहरि स्मरण है, सो जो कुछ बन सके बहुत ही जल्दी कर डालना चाहिए, क्योंकि इस शरीररूपी घरका क्या ठिकाना, यह तो क्षणभंगुर देखने मात्रका है, यथार्थमें कुछ नहीं।

जैसे धुआँका धौरहर अथवा बादल जो देखते-देखते विलीन हो जाता है; दूसरे साररूपी जलसे रहित होता है। वैसे ही यह नर-तन बरफ (ओले) की भाँति क्षणमात्रमें गल जाने वाला है। तिसको ये जीव, अमर जानकर बैठ रहा है। जैसे श्रीगोस्वामी जी कहते हैं कि 'लघु जीवन संवत पंच दशा। कलपांत न नाश गुमान असा'।। यह ठीक ऐसा ही हुआ जैसे कि कोई दरिद्री, स्वप्नमें बहुत सम्पत्ति पाकर, अति कृपणतापूर्वक उसे एकत्र कर कहे कि 'अब मैं दरिद्रतासे मुक्त हो गया, और जागते ही फिर ज्यों का त्यों रंक हो जाय,तो बताओ उसने स्वप्नमें संपत्ति से किसका ऋण चुकाया ? ठीक इसी प्रकार जीवरूपी रंक जगत् में जन्म लेकर जीवनरूपी रात्रि सपत्तिको एकत्रित करता है, और फिर अन्तमें कालरूपी प्रभात उसको रकका रक बना देता है। इस तरह उसका संग्रह व्यर्थ हो जाता है।

अतः हरि-शरण ही जीवको परम कल्याणप्रद है। जगत्‌रूपी चक्कीको माया पीस रही है जैसा कि श्रीकबीरजी कहते हैं—

चलती चाकी देखिकै दिया कबीरा रोय।
दो पाटन बिच आयकै साबत बचा न कोय।।

आसै पासै जो फिरै निपट पिसावै सोय।
कीला सौ लागा रहै ताको विघ्न न होय॥

इससे श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जीवके लिए यही उत्तमोत्तम चाल है कि उसे श्रीहरि-भजनरूपी गर्म-गर्म खिचड़ी को शीघ्राति-शीघ्र, जितनी बन सके खा लेना चाहिए ॥३॥

टिप्पणी—मार—यह शब्द किसी कार्यको अतिशीघ्रता पूर्वक करनेके लिए देशी बोलचाल की भाषामें कहा जाता है। यहाँ फौरनसे पेश्तर खा लेनेके अर्थमें आया हैं कि—'लपक ले।'

ज्यों पीसंती चाकिया—जिस प्रकार चक्कीमें पिसने वाले अनाजके दाने, जो चक्कीकी कीलके गड्ढेमें (जो कीलके चारों ओर गहराई होती हैं) भर जाते हैं वे पिसनेसे बच जाते हैं। वैसे ही इस जगत्‌रूपी चक्कीका आधारभूत (कील) जिससे यह संचालित है ईश्वर ही है। अतः जो जीव इसके ही धर्म आश्रय रहकर इसकी शरण लेते हैं वे इसी चक्कीसे पिसनेसे बच जाते हैं।

आग लगंते झोंपड़ा जो निकसे सो लाभ।
जो निकसे सो लाभ चेत मानुष तन चोरी।
वे लेखे की श्वास जात आवत न बहोरी।
ज्यों कर अंजुलि माँहि घटत जल थिर न रहावै।
कर आतुर हरि भजन साखि काया ध्रुव जावै।
'अग्र' कहाँ लौ थेगरी दीजे फाटै आभ।
आग लगंते झोंपड़ा जो निकसे सो लाभ॥४॥

शब्दार्थ—वे लेखे=अपरिमित। आतुर=शीघ्र। साखि= गवाही। ध्रुव=निश्चय। थेगरी=टुकड़ा, थिघड़ा। आभ= आकाश।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि, जैसे आग लगने वाले घरसे जो कुछ भी निकल सके निकाल लेना चाहिए, क्योंकि वही हाथ रह जाता है और सब जल ही जाता है। वैसे ही—

(दार्ष्टान्त)—यह शरीररूपी झोपड़ा मृत्युरूपी आगसे जलने वाला है। अतः जो लाभ (स्वारथ) इससे उठा सकते हो, उठा लेना ही अच्छा है, क्योंकि जब तक इसका अस्तित्व है तभी तक चाहे जो हो सकता है, और जन्म सुधर सकता है। क्योंकि जीवका परम-स्वारथ ये है कि—

स्वारथ सांच जीव कर येहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥
(गो० श्रीतुलसीदासजी)

इससे हे जीव! तू चेत जा। देख! तेरे शरीररूपी झोपड़े की छिन-छिनमें चोरी होती जा रही है, कि मृत्युरूपी चोर जीवन की अपरिमित स्वासायें चुरा रहा है, अर्थात् स्वांसायें जो निकलती जाती हैं वह फिर वापिस नहीं आती हैं। यही तेरा सर्वस्व हरण होता जा रहा है, और तू तिस पर भी, यह समझते हुए, गाफिल पड़ा हुआ है। जिस प्रकार अञ्जुलीका जल धीरे-धीरे घटकर सब घट जाता है। इसी तरह हे जीव! यह तेरी कायाका जीवन धीरे-धीरे कम होता जा रहा है; और यह निश्चय है कि एकदिन अवश्य नष्ट होगा। अतः शीघ्राति-शीघ्र सर्वदुःखहर्ता, दिव्य-अक्षय सुख देने वाले परम-सनेही श्रीसीता-रामजीका स्मरण भजन करले। जो काया नष्ट हो जानेके अनन्तर तेरा साक्षी (सहायक) रहे।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे आकाश के फटनेसे कोई उसे थेगड़ी द्वारा (छोटे टुकड़ोंसे) सीना चाहे, तो क्या सी सकता है ? कदापि नहीं, इसी प्रकार हे जीव ! मरते समय तुझे मृत्युसे कोई नहीं बचा सकता है। इससे शक्ति अनुसार हरि भजन करले ॥४॥

टिप्पणी—साखि—इसका भाव यह भी है कि—समस्त धार्मिक प्रतिष्ठित-ग्रंथ तथा महत्‌जन, सभी इस बात की अति निश्चयतापूर्वक साक्षी देते हैं, कि कायाका नाश होना अटल है। दूसरे जीव, जीवोंको मृत्युवश होता देख, स्वयं अनुभव करता है कि मुझे भी मरना पड़ेगा इत्यादि।

बीतो ब्याह कुम्हार को भाँड़े ले ले जाउ।
भाँड़े ले ले जाउ हतो धन धरती गाड़ो।
हय गय भवन भँडार जहाँ को ताँही छाँड़ो।
तात मात सुत बाम सजन से मिटी सगाई।
तत्व तत्व में मिल्यो हंस चालो छुटकाई।
'अग्र' कहे नर गाय हरि जौ लौं तनमें आउ।
बीतो ब्याह कुम्हार को भाँड़े ले ले जाउ ॥५॥

शब्दार्थ—भाँड़े=मिट्टीके बर्तन। हतो=था। सगाई= नाता। आउ=आयु।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं, कि जैसे विवाह हो जाने के अनन्तर कुम्हारके बर्तनोंको कोई नहीं पूछता चाहे जो ले जाकर, चाहे जो करे। क्योंकि उनकी जरूरत निकल जाती है वैसे ही।

(दार्ष्टान्त)—जीवका जीवन अर्थात् अवधिरूपी ब्याह समाप्त हो जाने पर कुम्हाररूपी ब्रह्माका शरीररूपी बर्तन, व्यर्थ हो जाता है। उसे चाहे जो ले जाकर चाहे जो करे (यानी जलना, बहाना, दफनाना इत्यादि)। उसको कोई नहीं पूछता है।

परन्तु जीवात्माके निकल जाने पर गड़ा हुआ धन, हाथी, घोड़े, भवन भण्डार तथा समस्त एकत्रित की हुई वस्तुयें जहाँ की तहाँ ही पड़ी रह जाती हैं। (जैसे कि ब्याहमें अनेकों प्रकार की वस्तुओंका संग्रह किया जाता है और बादको सब पड़ी ही रह जाती हैं) अर्थात् मरणान्तर साथमें कुछ भी नहीं जाता है और माता, पिता, भाई, सुत, स्त्री, कुटुम्ब कबीला, मित्रादि सबहीसे अपनत्व मिट जाता है, केवल जीवात्मा शरीरसे निकलकर (लिंगस्वरूप) से अकेला ही स्मृति, कर्म, संसर्गानुकूल चला जाता है पंचतत्त्व पंच-महाभूतोंमें मिल जाते हैं।

अतः श्रीस्वामीजी उपदेश करते हैं, कि हे जीव ! जब तक जीवन अर्थात् आयु है तब तक (यह देवदुर्लभ तन प्राप्त करके) श्रीहरिनामको भर-शक्ति पुकार ले। अथवा दोनों लोकोंमें सुख देने वाले अशरण-शरण भक्तवत्सल भगवानकी शरण लेकर उनका भजन करले। व्यर्थ अवसरको न खो दे ॥५॥

टिप्पणी—तत्व तत्वमें मिलो—जीवका शरीर पंचतत्वोंसे बना हुआ है, जैसा कि श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

छिति जल पावक गगन समीरा। पञ्चतत्व यह रचित शरीरा ॥

जब ये पांचों तत्व शरीरसे निकलकर पंच-महातत्वोंमें मिल जाते हैं। इस तरह कि—

पानी में पानी मिला पवन पवन में लाग ।
माटी में माटी मिली मिली आग में आग ।।

तब जीवात्मा इन्हीं पांचों-तत्वोंके साथ कायासे निकल जाता है इसीको मरना कहते हैं।

हंस चाल्यो छुटकाई—यहाँ जीवात्माकी उपमा हंससे इसलिए दी गई है कि यह हंसके समान विमल तथा उज्ज्वल है। दूसरे हंससे पक्षीका बोध करा करके, कि जिस प्रकार पिंजड़ामें फँसा हुआ पक्षी बड़ी आतुरतासे छूटकर निकल जाता है, उसी प्रकार (जीवात्मा) निकल जाता है। फिर इसकी ओर देखता भी नहीं।

गुड़ जाने कै कोथरा कै बनियाँ कै हाट ।
कै बनियाँ कै हाट जीव जेहि विषय सुहाथी ।
मार परै जम द्वार जहाँ कोई संग न साथी ।
निज कृत को फल लहै ताहि भोगे सो प्राणी ।
नरक यातना घोर तहाँ पुनि ऐचातानी ।
'अग्र' सुखन को घट करी ते अब लागी बाट ।
गुड़ जाने कै कोथरा कै बनियाँ कै हाट ।।६।।

शब्दार्थ—कोथरा=बोरा, थैला। मार=दण्ड, यातना। कृत=कर्म। घट करी=अधर्ममय आचरण किये, बेईमानी की। लागी बाट=आड़े पड़ना, कण्टक होना, दुःख देने वाले होना।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि 'जैसे रखे हुए गुड़का हाल उसका बोरा जान सकता है, या

बनियाँ, अथवा जहाँ वह रखा है, वह हाट (बाजार) जान सकता है। वैसे ही—

(दार्ष्टान्त)—विषयरूपी गुड़ इन्द्रियरूपी कोथरे (बोरी) में सदैव विद्यमान रहता है, क्योंकि जीवके स्थूलविषय नाश हो जाने पर, सूक्ष्म बने ही रहते हैं। जब तक श्रीप्रभुरूपी हाट नहीं उठ जाती है, तब तक अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कारमें) मैं, मेरा, का भाव बना ही रहता है।

इस थोड़ी देर की हाटमें भी (जीवन जो हाट की थोड़ी-सी अवधि है) इस जीवरूपी मिथ्या अहंकारोन्मत्त हाथीका विषय अच्छा मालूम पड़ता है। इसीके फलस्वरूप इस (जीव) को मरते समय और मरनेके अनन्तर यमके दरवाजे पर, जहाँ कोई सङ्गी-साथी और सगा नहीं होता, अत्यन्त दारुण-दुःख भोगने पड़ते हैं। क्योंकि—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

इस न्यायानुकूल जीव मरते समय यमगणोंकी मार (यातना) सहकर यमलोकमें जा, नाना-प्रकार की नरक यातनाओंको अपने कुकर्मानुकूल भोगता है, और इसके पश्चात्में नाना योनियोंमें उत्पन्न होकर जन्म-मरणके अनेकों प्रकारके सांसारिक असह्य कष्टोंको सहता है।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं, कि जिन सुखोंके लिए अनेकों घट (निषेध) कर्म किये जाते हैं, जो क्षणभंगुर, मान लेने भर के हैं, यथार्थमें कुछ नहीं, अर्थात् भ्रमरूप हैं और जिनके लिए जीवन दे दिया जाता है, वे सब मरते समय पासमें खड़े हुए भी कुछ सहायता नहीं कर सकते हैं। जैसा कि श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि—

जिन्ह लगि निज परलोक बिगार्‌यो ते लजात होत ठांढ़ ठांय ।।

तथा (विनयपत्रिका)

अन्तहु तोहि तजेंगे पांवर तू न तजे अबही तें । इत्यादि ।

अथवा जिन इन्द्रियोंके सुखार्थ तू अपना जीवनधन देता है वह सब प्रथम ही छोड़कर चली जाती है और कर्मफल तुझे भोगने पड़ते हैं जैसे—

और करे अपराध कोउ और पाव फल भोग ।

(श्रीगोस्वामीजी)

अतः हे जीव ! तू इन क्षणिक सुखोंके लिए अपने जीवन धनको व्यर्थ न गँवा, ऐसा सुअवसर प्राप्त कर ईश्वर आराधना कर जरा-जन्म-मरणके भयसे मुक्त हो ले ।।६।।

टिप्पणी—ऐंचातानी—निकालना (पैदा करना) और खैंचना (मार डालना)

जीवको जन्म लेते समय तथा मरते समय असह्य कष्ट होता है। कहा जाता है कि— जिस प्रकार स्वर्णकार चांदी-सोनेके तारोंको अपने यन्त्रके (जतीके) वेध(छेद) से खींचकर निकालता है, उसी प्रकार जीवोंको योनिसे निकालना पड़ता है। (यही 'ऐंचा' यानी निकालना हुआ) और मरते समयके लिए भी ऐसा ही कहा जाता है, कि जीवको उस समय हजारों बीछी (बिच्छू) के साथ काटनेके बराबर दुःख होता है। (यही 'तानी' है)।

कहनेका तात्पर्य यह है कि बार-बार जन्म ले-लेकर नाना प्रकार की योनियोंके त्रितापमय कष्ट तो अलग उठाने ही पड़ते हैं, साथ ही साथ आवागमनके भी दारुण दुःख झेलने पड़ते हैं।

गाडर आनी ऊन को बांधी चरे कपास।
बांधी चरे कपास बिमुख हरि लौन हरामी।
प्रभु प्रापति की देह तुच्छ सुख खोई कामी।
जठर यातना अधिक भजन बदि बाहर आयो।
लाग्यो पवन संसार कृतघ्नी नाथ भुलायो।
'अग्र' चाकरी चोर हाजिर कवल इते पर आस।
गाडर आनी ऊन को बांधी चरे कपास ।।७।।

शब्दार्थ—कामी=विषयी। तुच्छ सुख=पंच विषयसुख। वदि=वादा करके। कृतघ्नी=उपकार न मानने वाला। हाजिर=उपस्थित। कवल=कौल(कसम),ग्रास, पहले। चाकरी चोर=सेवा भजनसे विमुख हुआ।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं जैसे कोई गड़रिया ऊन प्राप्त करनेके लिए गाड़र लावे (रखे) और वह ऊन देनेके बदले उलटी उसके कपासको चरने लगे, तो उसको कितना कष्ट हो। वैसे ही—

(दार्ष्टान्त)—जीवरूपी गड़रियेने इन्द्रियांरूपी गाडर ईश्वररूपी पवित्र ऊन प्राप्त करनेके लिए, प्राप्त की है यदि वह उलटी विषयोन्मत्त होकर आयुरूपी कपासको चरके नष्ट कर डाले तो फिर क्यों न जीवरूपी गड़रियेको अन्तमें कष्ट हो।

वैसेही—ये जीव (चेतन) हरिका शेष होकर, उन्हींसे विमुख हो उन्हींके सुख भोगोंसे अपने मनोरथको यथाशक्ति पूरा कर, अपने स्वामीकी सेवा (बन्दगी) का ख्याल भुलाकर, मनमाना विषयी सुखसे ललचाकर और क्षणभंगुर सुखमें लिप्त रहकर नमक-हरामी बनता है।

इस मनुष्य देहको जो ईश्वर-प्राप्तिका उत्तम फाटक है, जिसे श्रीहरिजी अपनी अकारण कृपासे प्रेरित हो जीवको अपनी प्राप्तिके लिए देते हैं उसे यह जीव नाना-प्रकार की तुच्छ कामनायें कर विषय लम्पटतामें डालकर नष्ट कर देता है।

जैसे श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

छन सुख लाग जन्म शत कोटी।
दुख न समझ तेहि सम को खोटी॥

इस जीवको जब माताके उदरमें असह्य कष्ट होता है, तब ये महा-व्याकुल हो हरि-स्मरण कर स्वांस प्रति स्वांस उनके नाम लेनेका करार करता है। इसके अनन्तर ज्यों ही गर्भके बाहर निकलता है, और प्रसव पवन लगती है, सोई वह अपने करारको भूलकर मायामें लिप्त होने लगता है और अपने परमहित (गर्भसे निकालने वाले) को भूल जाता है।

श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि—

कबहुंकि करि करुणा नर देही। देत ईश बिन हेतु सनेही॥
नर तन भव बारिधि कहँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
करण धार सत गुरु द्रढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥
जो न तरे भवसागर नर समाज अस पाय।
सो कृत निंदक मन्द मति आतम हन गति जाय॥

अतः श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि, ऐसा ये कृतघ्नी जीव अपनी चाकरी (उदर करार) सेवासे, जो हाजिर कवल की तरह है यानी सामने परोसे हुए भोजन की तरह है, विमुख होकर (सेवा-चोर) बनकर भी अपने मनोरथों की पूर्तिकी आशा करता है जो ठीक ऐसे ही है जैसे कि—

गाड़र आनी ऊन को बांधी चरै कपास। इत्यादि—

टिप्पणी—जठर यातना अधिक—कहा जाता है कि 'माता-उदर (गर्भ) में जीव उलटा (नीचेको सिर, ऊपर पैर से) अधर लटकता हुआ, चारों तरफसे जकड़ा हुआ (जहाँ जरा भी अवकाश नहीं) एक झिल्ली (बहुत पतली) त्वचा की थैलीमें बन्द रहता है। चारों ओरसे मल-मूत्रादिकसे घिरा हुआ दुर्गन्ध से अति व्याकुल होता है, जिस पर भी जठराग्निकी तपन(गर्मी) द्वारा और भी व्याकुल होता रहता है। कहनेका आशय यह है कि वहाँ इसे अकथनीय दु:ख होता है।

हाजिर कवल—इसका एक भाव यह भी है कि हे जीव! अपनी हाजिरीके पहले तू अपनी बंदगी तो अच्छी तरह करता ही नहीं यानी ईश्वरके पास जानेके पहले तू उनको प्रसन्न करने के लिए उनको सेवा-पूजा तो कुछ करता नहीं है तिस पर भी तू आशा रखता है कि हमारा भविष्य अच्छा हो?

दूसरे यह कि, पहले तुझे अपने माता-उदर-करारको ही पूरा करना चाहिए जो मुख्य कर्तव्य है, सो तो पूरा करता नहीं। पुन: सेवाके समय चोरकी तरह छिप जाता है सेवा नहीं करता है और हाजिर कवल अर्थात् भोजनके समय उपस्थित हो जाता है इस तरह मार्ग, कर्तव्यच्युत होते हुए भी तू अब उनसे किस प्रकार आशा रखता है? क्या तुझे ये आशा रखना उचित है अथवा क्या तेरी ये आशा ठीक है?

सौ गाहे सूआ पढ़े अन्त बिलाई खाय।
अन्त बिलाई खाय अविद्या जीव न त्यागे।
बचन धर्मकी ध्वजा हृदय नाहिन अनुरागे।
बातनकी पकवान क्षुधा गत उदर न भरई।
रामचरण दृढ़ प्रीति बिना नहिं कारज सरई।

'अग्र' नम्र गति अम्बुलौं ढुरकत ही को जाय ।
सौ गाहे सूआ पढ़े अन्त बिलाई खाय ॥८॥

शब्दार्थ—सौ गाहे=सैकड़ों कहानियाँ व अति परिश्रम से । सरई=सिद्ध होना । गति=चाल, अवस्था, तान, व्यौहार नम्र=सरल ।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं, कि जैसे अति परिश्रमसे सुआको पढ़ाया जाय और अन्तमें उसे बिल्ली खा जाय । तो उसका सब परिश्रम व्यर्थ हो जाता है । क्योंकि पढ़ने-पढ़ानेसे क्या लाभ हाथ लगा व्यर्थ ही (पढ़ने-पढ़ाने) का परिश्रम हुआ । वैसे ही—

(दार्ष्टान्त)—यह जीवरूपी तोता कितना ही परिश्रम करके पढ़-लिखकर कितनी ही अपनी मन-गढ़न्त बातें बना-बनाकर बका करे, पर अन्तमें मृत्युरूपी बिल्ली इसे अवश्य खा जायगी । वहाँ इसके पढ़नेकी एक बात भी न चलेगी ।

ऐसा समझता हुआ भी यह जीव अविद्याको नहीं छोड़ता है । केवल बचनों द्वारा धर्म-निरूपण करता हुआ अपनेको स्वयं धर्मध्वजी समझता है, परन्तु हृदयमें जरा भी प्रेम नहीं करता । जिस प्रकार बचनोंसे नाना-प्रकारके पकवानों मिठाइयों की व्याख्या करनेसे भूख नहीं मिट सकती इसी प्रकार जीव बचनों द्वारा चाहे कितनी ही चतुरता प्रकट करे, परन्तु श्रीसीतारामजी के चरण-कमलोंमें दृढ़-हृदय अनुरागके बिना उसका यथार्थ-कार्य (शान्ति, सुख प्राप्ति) नहीं बन सकती ।

अथवा कितना ही धर्म, कर्म साधनादि करे पर बिना दृढ़भक्तिके यथार्थसुख प्राप्ति नहीं हो सकती ।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि इस जीवकी गति जलकी तरह है कि नीचेको ही स्वभावतः जाता है। जैसे—

जल की मन की एक गति नीचे को ही जाय।
बड़े यतन से राखिये तब ऊँचे ठहराय॥

बड़े यतनसे, यानी श्रीसन्त, गुरु चरणरजका सेवनपान और श्रीसीतारामजीका सुमिरण करनेसे, भक्ति आती है तब कहीं यह ऊँचे पर ठहरता है। अर्थात् स्थिर हो भजनमें लगकर यथार्थसुख प्राप्त करता है ॥८॥

टिप्पणी—वचन धर्मकी ध्वजा—वचनों द्वारा ज्ञान-कथन करना ही धर्मकी ध्वजा (पताका, झण्डा), समझना- -कहनेका तात्पर्य यह है कि अपने आपको बड़ा-ज्ञानी समझकर दूसरोंको ज्ञानोपदेश देकर धर्म-पथ पर चलनेका आग्रह करना और स्वयं उस आचरणमें रत न रहकर, केवल इसी तरह उपदेश बकनेसे ही अपनेको परम धर्मवान व परमज्ञानी मान लेना। जो बिल्कुल व्यर्थ है। जिसमें जरा-भी धर्मका लेश नहीं, क्योंकि केवल वचनों द्वारा धर्म-सुखका लेश भी प्राप्त नहीं हो सकता है।

श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—
वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुण भवपार न पावहिं कोई।
ज्यों गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत नहिं होई॥

नम्र गति अम्बुलौं—यहाँ जीवगति की जलगतिसे उपमा देते हुए श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जीव (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार)की गति जल-गतिकी तरह है। जैसे पानी जितनी ढालू जगह पाता जायेगा उतनी ही तेजीसे नीचेको ही ढुरकता चला जायेगा। या जितना ऊँचेको दबाव पायेगा उतना ही

ऊपरको उठता चला जायेगा। परन्तु स्वभावतः(बिना किसी दबावके) नीचेको ही जायेगा ? ठीक इसी प्रकार जीवका स्वभाव भी नीचेकी ओर (कुसंग की ओर) जानेका है, परन्तु जितना ज्यादा दबाव इसे सत्सङ्गका पड़ेगा उतना ही यह ऊँचे (ज्ञान, भक्ति, वैराग्यादि) की ओर जायेगा।

दूसरे (ज्ञानदेशमें) जलका प्रभाव अति सूक्ष्म है, परन्तु जीव यहाँ तक कि मायातीत हो सकता है।

नदी किनारे रूखरा जब कब होय विनास।
जब कब होय विनास देह कागद की छागर।
आयु घटे दिन रैन सदा आमय को आगर।
जरा जोरवर श्वान प्राण को काल शिकारी।
मूषक कहा निशंक मृत्यु तक रही मँजारी।
'अग्र' भजन आतुर करो जौ लौं पंजर श्वास।
नदी किनारे रूखरा जब कब होय विनास ॥६॥

शब्दार्थ—रूखरा=पेड़। छागर=पुड़िया, नाव। आमय=रोग। आगर=घर। जरा=बुढ़ापा। मँजारी=बिल्ली।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे नदी किनारे पर लगा हुआ वृक्ष कभी न कभी नष्ट होनेको ही होता है, क्योंकि न मालूम किस दिन अचानक नदीका प्रवाह उसे उखाड़कर बहा ले जाय इसका क्या ठिकाना ?

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही संसाररूपी नदीके जन्म-मरणरूपी किनारे पर स्थित, यह शरीररूपी वृक्ष, निवासके लिए ही है, न मालूम कब अचानक कालरूपी प्रवाह इसे उखाड़कर बहा ले जाय, इसका क्या भरोसा है ?

दूसरे यह देह एक कागज की नावके सदृश है, कि जिस प्रकार वह धीरे-धीरे भीगती हुई कुछ समयमें गल जाती है। उसी प्रकार यह शरीर भी दिन-रात छिन-छिन सदैव घटकर जीवनकी अवधि-भरमें नष्ट हो जाता है। अर्थात् यह ओलेकी तरह घुल जाने वाला है और सदैव आमयका घर ही है। प्राण का शिकार करने वाला कालरूपी शिकारीका, बुढ़ापारूपी कुत्ता बड़ा बलवान है, जो शरीरसे लगकर प्राण निकाल ही लेता है। अतः हे जीवरूपी चूहे तू ! कैसा निशंक (बे-फिक्र,निठर) हो रहा है, जबकि मृत्युरूपी बिल्ली तेरा शिकार करनेको कटिबद्ध हो तेरी ओर ताक लगाये बैठी हुई, तुझे हड़प लेनेका अवसर ही देख रही है।

इससे श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव ! सदैव इस बिल्लीसे सावधान रहकर, जब तक शरीरमें स्वांस यानी प्राण हैं, अर्थात् जब तक जीवन है, तब तक शीघ्राति-शीघ्र यथाशक्ति भजन-स्मरण कर ले।) नहीं तो इसका क्या ठिकाना कि कब उपरोक्त कथनानुसार तेरी यह देह नाश हो जाय। इससे अवसर को हाथसे मत जाने दे इत्यादि ॥६॥

टिप्पणी—जो लौं पंजर स्वास—जब तक इस शरीररूपी पिंजरेमें स्वांसरूपी (जीवात्मा) पक्षी है तब तक यह कामका है। नहीं तो जैसे बिना पक्षीका पिंजड़ा व्यर्थ पड़ा रहता है ऐसे यह शरीररूपी पिंजड़ा पड़ा रह जायगा।

घर से मियां निकासिया तरकस कहाँ धराव।
तरकस कहाँ धराव प्रथम जीवन निर्णय करि।
पलक माँहि प्रस्थान देह पुनि चलिहै परिहरि।

द्यावत गहरी नीव सदन नोहरा बगीचा।
हय गय रथ परमान कोउ नीचा अरु ऊँचा।
'अग्र' निडर जे मृत्यु ते तिनसे अधिक डराव।
घरसे मियां निकासिया तरकस कहाँ धराव ॥१०॥

शब्दार्थ—द्यावत=देता है। परिहरि=जोड़कर।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं, कि जैसे तरकस धारण करने वाले मियांके घरसे निकल जाने पर तरकस व्यर्थ हो जाता है। वैसे ही—

तरकसरूपी शरीरको धारण करने वाला जीवरूपी मियां, जब संसाररूपी घरसे निकल जाता है तो वह शरीररूपी तरकस व्यर्थ हो जाता है। अर्थात् उसको कोई नहीं पूजता, क्योंकि उससे किसीका प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है।

अतः शरीरको जीवन पर्यन्त ही नहीं बल्कि तन्दुरुस्तीमें ही प्रयोजनीय समझकर, जीवको इसका निर्णय कर लेना चाहिए, कि ये जीवन भी कब तकका है। अर्थात् हमको कब तक जीना है इत्यादि। सो यह (जीवन निर्णय) निर्णय होना दुर्लभ ही नहीं असम्भव है, क्योंकि इसका क्या ठिकाना है। जीवात्मा एक पल भरमें इस देहको त्याग चल देता है और फिर पीछे शरीर की ओर देखता भी नहीं।

इससे जो यहाँ रहनेका प्रयत्न करनेके लिए नाना-प्रकारकी गहरी नींव देकर मकानात व बाग-बगीचा लगाते हैं व हाथी, घोड़े रथादि ऐश्वर्यसूचक वस्तुयें एकत्रित करते हुए अपनेको नीचा-ऊँचा समझकर नाना-प्रकार की भ्रमोत्पादक कल्पनायें

करते हैं अर्थात् मृत्युका विस्मरण कर, अनित्यको नित्य समझकर निर्भयतासे स्वार्थमयी अज्ञानावस्थामें स्थित हो चलते हैं। श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि ऐसे मनुष्यसे हे सन्त जीवो ! तुमको डरते (भयभीत) रहना चाहिए। ताकि इन भ्रमोंका कुछ भी प्रभाव न पड़ने पावे क्योंकि इन्हीं भ्रमों पर जन्म-मरणके संस्कार निर्भर हैं।

टिप्पणी—घरते मियां निकासिया तरकस कहाँ धराव—(यानी) जब अन्तःकरण चतुष्टयसे पापरूपी मलीनता निकाल दोगे, तब ऊपरकी मलीनता अपने-आप व्यर्थ हो जायेगी अर्थात् नष्ट हो जायेगी। क्योंकि ऊपरकी सफाई और भीतरकी मलीनता से कोई काम न चलेगा।

टिप्पणी—द्यावत गहरी नींव—कहीं-कहीं धावत गहरी नींद,ऐसा पाठ है। अतः उसका आशय यह समझना चाहिए कि—

हे जीव ! तू घोर नींदमें पड़ा हुआ अनेकों सपने देख रहा है और जो तू इस सपनेमें नाना-प्रकारकी चीजें एकत्रित कर रहा है सो ये तेरे इस सपनेके अन्तके साथ ही तेरे लिए व्यर्थ हो जायेंगी। और तू इस बातको जानते हुए भी, नींदमें मस्त हुआ अनेकों संग्रह कर सबको सच्चा क्यों मान रहा है ? समझ ले यह तेरे जरा भी कार्य न आयेगा।

हय गय रथ परमान—हे जीव ! इन एकत्रित किये हुए हाथी, घोड़े, रथादि संपत्ति पर इतना मान करता है इन्हीं पर इतनी शान रखता है,कि किसीको ऊँचा किसीको नीचा समझता है। तात्पर्य यह है कि तू यह नहीं जानता, कि ये सब नश्वर है। मरणान्तर तेरे न रहेंगे। फिर तू इनकी आशा रखकर क्यों स्वयं व दूसरोंको छोटा-बड़ा मानता है।

मेटो चहै बुनावनो हरौ लगावै सूत।
हरौ लगावै सूत मूढ़ कर्मन को डार्‌यो।
कियो तुम्हारो होय सबै प्रभु तुमरो सारो।
पहिले जीव कि कर्म कहौ धौं वह समुझाई।
नीच ऊँच गति अगति कौन है याको दाई।
'अग्र' स्वामि के हाथ सब होत नीम ते नूत।
मेटो चहै बुनावनो हरौ लगावै सूत ॥११॥

शब्दार्थ—हरौ=नवीन, कच्चा। बुनावनो=बिनावट। डार्‌यो=पतित हुआ। नीम ते नूत=पुरानासे नया, बुरेसे अच्छा, करुवासे मीठा, नीमसे आम।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे बिनावटके दोष (खिरविरेपन) को ठीक करनेके लिए नया सूत भरकर सुधारते हैं, पर वह यथार्थरूपसे नहीं सुधरता है। वैसे ही—

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही प्रारब्ध दोषरूपी खिरविरापनको सुधारनेके लिए सुकर्मरूपी सूत लगाये जा सकते हैं। पर वह प्रारब्ध कुकर्मको यथार्थरूपसे नहीं सुधार सकते। कहनेका तात्पर्य यह हैं कि कर्मद्वारा यथार्थरूपसे प्रारब्ध नाश नहीं हो सकता। जैसे श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि—

कुटिल कर्म ले जाय जहां जहँ करि अपनी बरयाइं।
तहँ तहँ छोह न छाड़ब प्यारे कमठ अण्ड की नाईं॥

इत्यादि—

अतः यह जीव अपने कुकर्मों द्वारा ही हरि-विमुख हुआ पतित हो रहा है और कर्मों द्वारा ही यह ईश्वर सन्मुख हो सकता है। इस पर भी यदि कोई कहे कि कर्म ही सबका कारण है तो यह कौन समझकर (निश्चयपूर्वक) कह सकता है कि जीव पहले है या कर्म पहले है ? (यानी कौन किसका कारण है जीव का कर्म कि कर्म का जीव) और नीच, ऊँचगति, अगति आदिका देने वाला भी कौन है ? इत्यादि—

इस प्रकार स्वयं शंकाकर श्रीअग्रस्वामीजी उत्तर देते हैं कि इन उपरोक्त प्रश्नोंका उत्तर सहज नहीं। किसको किसका कारण कह दिया जाय ? अतः जीवको तो केवल ईश्वरको ही सबका कारण समझकर सदैव प्रार्थना करनी चाहिए। यही बड़ा सुकर्म है जो प्रारब्ध-दोषको कम कर सकता है।

हे परब्रह्म परमात्मा परमप्रभु ! आपका किया सब कुछ होता है। समस्त जगत् आपका ही निर्माण किया हुआ है और आपके ही हाथमें सब कुछ है। आप चाहें जैसा कर सकते हैं, (कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थः प्रभुः) हैं। आप आमको (मीठे को) नीम (कड़वा) व नीमको आम कर सकते हैं इत्यादि।

जो इस प्रकार की प्रार्थनारूपी नयासूत(सुकर्म कर) लगाकर बुनावटके दोषको यानी प्रारब्धरूपी दोषको सुधारना चाहे तो कुछ सुधर सकता है।

टिप्पणी—मूढ़ कर्मन को डार्‌यो—मूढ़ ! तू कुकर्म द्वारा ही पतित हुआ इस चौरासीमें पड़ा हुआ है। अथवा—हे जीव ! तू मूर्खतासे कुकर्म करता हुआ क्यों स्वयं (अपने हाथसे ही) पतित हो रहा है ? और क्यों चौरासी की ओर प्रस्थान कर रहा है ?

ढाक चढ़त वारी गिरे करे राव से रोस ।
करे राव से रोस दोष का प्रभु को दीजै ।
आपन कुमति कमाय परेखो काको कीजै ।
तृषावन्त सो जीव सरोवर पर चलि आई ।
यह देखो नहिं सुनो जन्तु पहँ जल चलि जाई ।
'अग्र' करै अपराध नर प्रभुजी सदा अदोष ।
ढाक चढ़त वारी गिरे करे राव से रोस ।।१२।।

शब्दार्थ—बारी=जाति विशेष, नाई पत्तल बनाने वाला । राव=राजा, श्रीमान् । कमाय=पैदा करना । परेखो=जांच ।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं, कि जैसे पत्तल बनाने वाला (बारी राजाकी सेवाके लिए पत्तल बनानेको पत्ते तोड़नेके लिए ढाकके वृक्ष पर चढ़े, और अपनी किसी त्रुटिसे वहाँसे गिर पड़े, और क्रोधमें आकर राजाको दोष दे तो कितना अन्याय है । वैसे ही—

(दार्ष्टान्त)—जीवरूपी वारी संसाररूपी ढाकके वृक्ष पर चढ़कर गिर पड़े (च्युत हो जाय) अर्थात् संसार ग्रहणकर माया में लिप्त हो आत्मस्वरूपको खो बैठे, और नाना-प्रकारके दुःख पा जगत्पति प्रभुरूपी राजाको दोष देकर उन पर रोष करे । यह न देख अथवा समझकर कि मैं अपनी ही त्रुटि या गफलतसे (हरि सुमिरनरूपी सेवाकी भूलसे) गिर पड़ा हूँ (दुःख पा रहा हूँ), तो क्या यह जीवरूपी बारी का न्याय है ?

अर्थात् नहीं, जबकि वह स्वयं बुरे-बुरे कर्मोंको संपादन करता है तो अपनी सच्चाई देखकर किससे उस निर्दोष ईश्वर

को दोष दे, परखता है ? इस प्रकारसे परम-समर्थ निर्दोष ईश्वरको दोष देकर उस पर कोप करना इसका घोर अन्याय है। जैसे प्यासे जीवको स्वयं तालाबके पास जाना चाहिए तब कहीं उसकी प्यास बुझ सकती है। सृष्टिमें कभी भी ऐसा न देखा अथवा न सुना गया है, कि प्यासेकी प्यास बुझानेके लिए स्वयं सरोवर(पानी पिलानेके लिए) प्यासेके निकट आवे। इसी प्रकार यह जीव संसारी त्रितापरूपी प्याससे जलकर भक्तिरूपी जल पी लेनेको, जिससे उसे शान्तिरूपी (सुख) मिलना है, तड़फ रहा है परन्तु वह सरोवररूपी प्रभुके पास जाकर उनसे जलरूपी भक्ति नहीं माँगना चाहता तो बताओ इसकी प्यासरूपी त्रितापें कैसे मिट सकती हैं ?

अतः जीवको चाहिए कि श्रीप्रभुसे प्रार्थना द्वारा उनकी शरण जाकर, उनकी समीपता सेवन कर उनका भजन करे ताकि वह प्रसन्न होकर जीवके कल्याणार्थ भक्ति-प्रदान करें जिससे वह अपने आत्मरूपको प्राप्त हो।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि ये जीव सदैव दोषोंका भंडार है। श्रीप्रभुजी सदा अदोष हैं, यह स्वयं अपने कर्मों द्वारा ही संसारमें नीच-ऊँच गति प्राप्त कर नाना-प्रकारके दुःखों–सुखोंको प्राप्त होता है ॥१२॥

टिप्पणी—प्रभुजी सदा अदोष—ईश्वर सर्वदा दोषरहित हैं क्योंकि—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥
निज भ्रम नहिं समझहिं अज्ञानी। प्रभुपर मोह धरहिं जड़ प्राणी॥

(श्रीगोस्वामीजी) इत्यादि—

सूनो घर को पाहुनो ज्यों आवै त्यों जाय।
ज्यों आवै त्यों जाय धर्म बिन धिक् नर देही।
झूठ कुटुम संग्रहै तजै सत श्याम सनेही।
परमारथ को पीठ दीठ स्वारथ मों दीन्हीं।
जन्म लाभ नहिं लखो रामकी भक्ति न कीन्हीं।
'अग्र' कहै सत्संग बिन कछू लाभ नहिं आय।
सूनो घर को पाहुनौ ज्यों आवै त्यों जाय ॥१३॥

शब्दार्थ—सूनो=शून्य, खाली। पाहुनो=मेहमान, अतिथि। धिक्=व्यर्थ, धिक्कार। दीठ=दृष्टि।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि, जैसे सूने घर पर आया हुआ अतिथि (मेहमान, पाहुना) निराश हो ज्यों का त्यों वापिस लौट जाता है। केवल आने-जानेका कष्ट ही सहकर अतिथि सत्कारके सुख-शान्तिसे बंचित हो जाता है। वैसे ही—

(दार्ष्टान्त)—इस असार संसाररूपी घर पर आकर पापों को ही भोगकर और पाप ही कमाकर, यह जीवरूपी अतिथि बिना धर्मके निराश हो, केवल जन्म-मरणरूपी आने-जानेका कष्ट सहकर तथा पापरूपी कष्टोंको सहकर, यथार्थ-शान्ति सुखसे बंचित हो अति दु:खित वापिस जाता है।

ऐसी सुन्दर सर्वोच्च नर-देह प्राप्त कर जिससे ईश्वर-प्राप्ति सुलभ हो सकती है, जो ईश्वर प्राप्त नहीं कर सकता है, ऐसे मनुष्य शरीरधारी जीवको धिक्कार है। यह सच्चे परम सनेही श्यामसुन्दर परात्पर श्रीप्रभुको छोड़ नश्वर मिथ्या,

मतलबी सांसारिक कुटुम, कबीलादिका संग्रहकर अपने जीवन को व्यर्थ खोता है। और परमार्थको (क्योंकि)—

सखा परम परमारथ येहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥

जो सबसे परे पहुँचाकर परमगति देने वाले हैं। त्यागकर, निजस्वार्थ जो नीचगतिको पहुँचाने वाला है उससे स्नेह करता है। ऐसा ही नहीं है कि जो द्रव्य सच्चा-स्वारथ है, उसीको ही यह (जीव) प्रेम करे क्योंकि—

स्वारथ सांच जीव कर येहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥

अर्थात् अपने सच्चे-स्वारथरूप श्रीसातारामजी की भक्ति-प्रेम न करके झूंठे स्वार्थमें लगकर अपने जन्मके लाभको न देखकर अपनी दशा सोचनीय बनाता है। क्योंकि—

सोचनीय सबही बिधि सोई।
जो न छाँड़ि छल हरिजन होई॥

(श्रीगोस्वामीजी)

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव! सत्संग किये बिना तेरे हाथ कोई लाभ (सुख) नहीं लग सकता है क्योंकि सत्संगसे भक्ति और भक्तिसे शान्ति-सुख प्राप्त होता है इससे सत्संग कर। नहीं तो सूने घर पर आये हुए अतिथि की तरह तेरा हाल होगा ॥१३॥

टिप्पणी—सत्संग—सत्य वस्तुका ही संग सत्संग है। अब यह देखना है कि इस संसारमें सत्य क्या है? इसके उत्तरमें स्वयं देवाधिदेव श्रीशङ्करजी महाराज, जीवोंके कल्याणार्थ अपनी प्राणबल्लभा श्रीपार्वतीजीसे कहते हुए, अपने अनुभवको प्रकट कर रहे हैं। कि—

उमा कहौं मैं अनुभव अपना ।
सत हरिभजन जगत सब सपना ।।

(श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी)

अतः हरिभजन ही सत्संग है अर्थात् हरिका भजन करना ही सत्संग करना है ।

अब यह देखना चाहिए कि हरिभजन क्या है। तो भजन—सेवा भक्ति (क्योंकि 'भजसेवायाम्' इसी धातुसे इन शब्दोंका बोध होता है) स्मरण, कीर्तन, ध्यान, निरंतर रटन, जप, गान, इत्यादि ।

और भक्ति भी १२ प्रकार की कही गई हैं अर्थात् नवधा, ❀प्रेमा, परा परमा, इत्यादि यहाँ विस्तार भयसे इतना ही कह देना पर्याप्त है । अतः ईश्वरकी सेवा, भक्ति करना ही हरिभजन है। और यही सत्संग है ।

सोई नारि सतेवरी जाकी कोठी ज्वारि ।
जाकी कोठी ज्वारि जाहि सीतापति भावै ।
श्रवण सुने हरिकथा रसन गोविन्द गुण गावै ।
आरज विदुष उदार सुमति सुकुलीनो सोई ।
हृदय बसै हरि चरण जगत डारै करि छोई ।
'अग्र' कहैं ता दास पर तन मन डारौं वारि ।
सोई नारि सतेवरी जाकी कोठी ज्वारि ।।१४।।

❀ देखिये श्रीतुलसीकृत रामायण अरण्यकाण्ड । (शबरी श्रीराम-सम्वाद) ।

(शब्दार्थ)—सतेवरी=सती, सत्यव्रत वाली, पतिव्रता, सर्वगुण सम्पन्न। विदुषा=पण्डिता। आरज=आर्य। छोई=छिलका, तत्वरहित। वारि=न्यौछावरि।

भावार्थ—(दृष्टान्त)-श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं, कि जैसे वही स्त्री मालोमाल है, और वही सती तथा सर्वगुणयुक्त कुलवंती है जो पतिव्रता है। वैसे ही—

(दार्ष्टान्त)-नारीरूपी आत्मा कोठी ज्वार वाली यानी मालोमाल, वही है। क्योंकि नारीका यही परम अटूट धन है।

अतः जिस आत्माके श्रीसीतारामजी ही यथार्थपति हैं, जो उन्हींकी श्यामसुन्दर मूर्ति की मनोहर छटाको ध्यानमें देखकर अहर्निश छकी रहती है और उन्हींकी सुन्दर कथाओंको कानों द्वारा श्रवण कर रसनासे उन्हींका अलौकिक गुणानुवाद गाती रहती है अर्थात् जिसका अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार) मय इन्द्रियों तथा उनके संचालकों सहित उनके नाम, रूप, लीला और धाममें ही अत्यन्त प्रेमोल्लासके साथ लगा रहता है, वही आत्मा कुलवन्ती, सती, पतिव्रता और वही निज दैवीसंपत्ति (अनश्वर सम्पत्ति) से परिपूर्ण अथवा मालोमाल है।

अतः वही जीव आर्य (सत्य, धर्मवान और महान्) श्रेष्ठ पण्डित, उदार (दानवीर), सुजन, ज्ञाता, श्रेष्ठ बुद्धिवाला तथा पवित्र कुल वाला है,जिसने संसारको असार जान छोई त्यागकर हरिस्मरणको ही सार समझ,अपने हृदय-कमलमें श्रीसीतारामजी के सर्व-विपत्तिहर्ता चरण-कमल बसाये हैं क्योंकि—

संयम नियम फूल फलज्ञाना। हरिपद रति रस वेद बखाना॥

अतः

सोइ सर्वज्ञ गुणी सोइ ज्ञाता। सोइ महि मंडित पंडित दाता ।।
धर्म परायण सोइ कुल त्राता। राम चरण जाकर मन राता ।।
नीत निपुण सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धान्तनीक तेहि जाना ।।
सोइ कवि कोविद सोइ रणधीरा। जो छल छांड़ि भजै रघुवीरा ।।

इत्यादि— (श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी)

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि ऐसे उपरोक्त कहे अनुसार दास पर हम तन-मन (सर्वस्व) से न्यौछावरि हैं अर्थात् उसको सब प्रकारसे धन्य है ।।१४।।

टिप्पणी—जाकी कोठी ज्वारि–जिसका घर ज्वारसे परिपूर्ण हो अर्थात् मालोमाल।

ज्वार—एक अनाज होता है जो मारवाड़ देश में बहुतायत से पैदा होता है और वहाँ जिसके यह ज्यादा उपजता है अर्थात् जिसके यहाँ इसकी कोठियां भरी होती हैं। वही वहाँ बड़ा मालदार समझा जाता है। क्योंकि उसके ही घर पर इसका लेन-देनका कार्य होता है। इत्यादि—

अतः श्रीस्वामीजीका यहाँ मालोमाल, महा-सम्पत्तियुक्त कहनेका ही तात्पर्य है और इसी अर्थ पर यहाँ घटाया गया है।

सोई नारि सतेवरी—वही स्त्रीरूपी आतमा पुण्यात्मा, पतिव्रता है जो सत्यवस्तुका वरण (ग्रहण) किये है। सत्यवस्तु क्या है? (देखिये कुंडली १३ की टिप्पणी)—

अतः यही सर्वोत्तम दैवीसम्पत्ति है जो इसे परम मालदार बना सकती है। क्योंकि—

बिन श्रम नारि परमगति लहई। पतिव्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥
जिमि सुख संपति बिनहिं बुलाये। धर्मशील पहँ जाहिं सुभाये॥
(श्रीगोस्वामीजी) इत्यादि—

डोकर मरै न छीजिये यमरा गीधत जाँय।
यमरा गीधत जाँय विषय आस्वाद कीजै।
सत संगति यश कोट राम चरणन चित दीजै।
राम नाम कर कवच अविद्या बान न लागै।
काम क्रोध मद मोह जनम मरणादिक भागै।
'अग्र' अदूषित चित्त पर फाटै कछु न बसाय।
डोकर मरै न छीजिये यमरा गीधत जाँय॥१५॥

शब्दार्थ—डोकर—बूढ़ा मनुष्य। यमरा—यमदूत। गीधत—लहटत (लालचवश हो बार-बार उसी तरह करनेको देशी बोलचाल की भाषामें 'गीधना' लहटना इत्यादि कहते हैं) अर्थात् लालचवश हो जाना। कोट—गढ़, किला, घेरा। फाटै—बिगड़ै। यश—कीर्ति, प्रसिद्धि।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे अति बूढ़ेके मर जानेसे कुछ हानि व चिन्ता नहीं रहती (क्योंकि उसे तो मरना ही था) परन्तु जैसे उसके मरनेसे यमदूतोंके गीधने (बार-बार आने) का भय हो जाय। वैसे ही—

(दार्ष्टान्त)—विषय-ग्रहण करनेमें उतना डर नहीं रहता है, जितना कि उससे विषयावलम्बी हो जानेकी संभावना रहती है।

अतः जीवको, इससे बचकर स्वतः रक्षाके लिए तथा शांति सुखमें आनन्दसे जीवन बितानेके लिए सत्सङ्ग ही एक अजयगढ़ यानी सुविख्यात् किला है। जिसमें बैठकर (स्थित हो) इसे श्रीसीतारामजीके चरण-कमलोंमें चित्त लगाना चाहिए। क्योंकि यदि वह सत्संगके सुदृढ़ दुर्गमें बैठकर चित्त लगायेगा तो कोई विषय दुर्गुणोंरूपी शत्रुओंके आक्रमण सीधे उस पर (उसके मन पर) न पड़ने पायेंगे, सत्सङ्गरूपी दुर्ग की दीवालसे टकराकर वापिस हो जायेंगे।

और यदि इस किलेमें (सत्सङ्गमें) कोई कारणवश वह न रह सका तो उनके (विषयों) आक्रमणोंका प्रभाव पड़ना सम्भव है। इससे श्रीसीताराम नाम-कीर्तन स्मरणरूपी वख्तरको उसे धारण कर लेना चाहिए। जिससे अविद्या मायाके वाणोंकी चोटोंका प्रभाव निष्फल हो और जन्म-मरणके असह्य कष्ट देने वाले कारणरूप षट्रिपु—काम क्रोध मोह इत्यादि भी पराजय हो भाग जावें। क्योंकि इस कवचके द्वारा उनकी चोटें किलेके बाहर भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकती हैं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि दूषित चित्त फट जानेसे कोई विशेष चिन्ता नहीं होती क्योंकि वह तो पहलेसे ही दूषित है। परन्तु यदि अदूषित चित्त भी फट जाय तो क्या वश।

जल पय सरिस बिकाय देखहुं प्रीति की रीति भल,
विलग होय रस जाय कपट खटाई परत पुनि।

जैसे यमगण बूढ़ोंको ले जायें तो कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं पर यदि वह गीधकर घरसे और किसीको ले जायें तो क्या वश है ॥१५॥

टिप्पणी—सत्सङ्गति यश कोट—सत्सङ्ग ही एक ऐसा

सुप्रसिद्ध किला है जो जीवकी हर प्रकारसे एक सुदृढ़ किले की तरह अविद्यारूपी शत्रु-प्रहारोंसे रक्षा कर सकता है। अथवा—

सत्संग ही समस्त यशोंका घेरा व किला है जिसमें जाते ही जीवको सब प्रकारके यश प्राप्त हो जाते हैं। अथवा—

सत्संगसे जीव यशका गढ़ (दुर्ग, आगार) हो जाता है।

(देखिये कुं० १३ की टि)—

सत्संग क्या है ?

कहनेका तात्पर्य यह है कि सत्संग द्वारा ही जीव अपनी भलीभाँति रक्षा करते हुए अभीष्टको प्राप्त हो सकता है क्योंकि-

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहां जो पाई।
सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ।
सत्संगति मुद मङ्गल मूला। सोई फल सिधि सब साधन फूला।

(श्रीगोस्वामीजी)

पुन्य पुंज बिन मिलहिं न संता। सत्संगति संसृति कर अन्ता।

इत्यादि

अविद्या बाण न लागे—माया दो प्रकार की है। पहली विद्या दूसरी अविद्या।

जैसे गोस्वामीजी कहते हैं—

गो गोचर जहँ लग मन जाई। सो सब माया जानहु भाई।
तेहि कर भेद सुनो तुम सोई। विद्या अपर अविद्या दोऊ।
एक दुष्ट अतिशय दुख रूपा। जा वश जीव परा भव कूपा।
एक रचै जग गुण वश जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।

अतः अविद्या जीवको कष्टप्रद तथा जगत्‌में डालने वाली है यानी आसुरी सम्पत्ति ही अविद्या है। और दूसरी(दैविकसंपत्ति) है जो जीवको अविद्यासे निकालने वाली है और सब प्रकारसे सुखप्रद है।

इससे जो विद्या कवचको वक्षःस्थल पर धारण करते हैं वे अविद्याके प्रहारोंसे विचलित नहीं हो पाते हैं इत्यादि—

जोगी था सो रम गया आसन रही विभूति।
आसन रही विभूति प्राण जब कियो पयानो।
सहजहि विरकत भयो कठिन मारग मो जानो।
मित्र गुरू उपदेश चलत चित चेत न कीनो।
तन धरि घट बढ़ कियो सोई संबल सँग लीनो।
'अग्र' कहै आयुष अथिर रमे जहाँ तहाँ धूति।
जोगी था सो रम गया आसन रही विभूति॥१६॥

शब्दार्थ—रम गया=चला गया। विभूति=भस्म, राख, ऐश्वर्य धनादि वैभव। बिरकत=विरक्त, रागरहित। संबल=कलेवा। आयुष=आयु, उम्र। रमे=रहते हैं, बास करते हैं। धूति=छलिया कपटी,धूर्त,चोर। कठिन मारग=कष्टप्रद रास्ता।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे किसी जोगीके चले जाने पर उसके ठहरनेका स्थान व उसकी विभूति पड़ी रह जाती है। वैसे ही—

(दार्ष्टान्त)—आत्मारूपी जोगीके शरीररूपी स्थानसे चले जाने पर शरीर और विभूतिरूपी माल-जाल पड़ा रह जाता है।

जो विभूति (सम्पदादिक) अति प्रयत्न करने पर भी भीतर बाहरसे पूर्णतया नहीं छूटती है। वही प्राण छूटनेसे सहजमें ही छूट जाती है। इस प्रकारसे अपने-आप विरक्त होकर इस जीवको अकेला सूक्ष्म-शरीरसे (वह शरीर जो यम-यातनाओंको भोगनेके लिए यमपुरी तक जाता है। (अंगुष्ठ-प्रमाण) यमपुरी की ओर अपने किये हुए कर्मों की परीक्षा करनेके लिए जाना पड़ता है। यह मार्ग अत्यन्त कठिन है, तथा कष्टप्रद है। क्योंकि यह(जीव) अपने साथ कुछ भी सुखप्रद सामग्री नहीं ले जा सकता है।

इसको समस्त सांसारिक सुख इस समय स्वप्नवत् तुच्छ दिखाई पड़ते हैं और किये हुए कुकर्मोंके फलस्वरूप यम यातनाओंका अत्यन्त भय तथा दारुणकष्ट रहता है। अत: एक तो यहाँ इसको अन्य विषयावलंबी सुखोंकी सुधि ही नहीं रहती है, दूसरे यमदूतोंसे जकड़ा हुआ जाता है, तीसरे मार्ग भी अगम है।

जब तक यह जीव-जीवित रहता है और इसकी चलती है, अर्थात् स्थूल-शरीरमें रहकर जब तक इसका श्रद्धारूपी यौवन-अवस्था व कर्तव्य रहता है, तब तक यह हितैषी मित्रोंकी परम कल्याणप्रद शिक्षा व संत-महात्माओं व अपने श्रीगुरुदेवजी के सुन्दर कल्याणकर उपदेशोंको जरा भी न मानकर, असावधानतापूर्वक, आगे-पीछेका कुछ भी विचार न करते हुए, अपना मनमाना करता रहता है। अत:—

यही मनमाने अच्छे-बुरे कर्म (इसी तरह) इसका ऐसे सुन्दर नर-तनको नष्ट कर देते हैं (सारे-जीवनका समय ले लेते हैं)। और यही इसको साथी व कलेवारूप होकर यमपुरी तक ले जाते हैं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव ! जीवन स्थिर नहीं है, और शरीरमें सब ठग बसते हैं जो तेरे जीवनको दिनोंदिन चुराकर घटा रहे हैं। इससे तू सावधान होकर चेत कर नहीं तो अन्तमें पछतायेगा। क्योंकि तुझे बे-वश विरक्त होकर जोगी की तरह उपरोक्त कहे अनुसार कुछ भी साथ न लेकर, सिर धुनि-धुनि कर जाना पड़ेगा। इससे गुरु-उपदेशों पर अमल कर इस मनुष्य-शरीरका लाभ उठा ले। इत्यादि ॥१६॥

टिप्पणी—चलत चित चेत न कीनो—

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव ! जब तेरा चित्त मनमाने कार्य करनेके लिए चलायमान होता था, तब तूने महत्‌जनोंके उपदेशोंको मानकर इसको उस ओर जानेसे क्यों नहीं रोका और क्यों न बुद्धि द्वारा उस समय इसे चेता कर सुमार्गमें लगाया ?

अथवा

तूने चलते-चलते समय तक (यानी मरते-मरते समय तक) भी कृपासिंधु भक्तवत्सल भगवानका इस चित्तसे जरा भी चिन्तवन न किया। यदि तू जरा भी अपने इस चित्तको उनकी ओर एकाग्रतासे अनुरागपूर्वक लगाता, तो तेरी उस समय तक भी सब प्रकारसे बन जाती। पर क्या किया जाय तूने उस समय तक भी चित्तको न चेताया—

टिप्पणी—रमे जहाँ तहाँ धूत—इस संसारमें व इस शरीरमें जहाँ तहाँ धूर्त ही निवास कर रहे हैं जैसा कि श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

(संसारके लिए)—

'मैं तोहिं अब जानो संसार'

बाँधि न सकहि मोहि हरि के बल प्रगट कपट आगार। इत्यादि

और भी

दो०—व्याप रहो संसार में माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाखंड॥
कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सद्ग्रन्थ।
दंभिन निज मति कल्पि कर प्रगट किये बहु पंथ॥

सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाय न बरणि अनीति अपारा॥

इत्यादि—

(शरीर के लिए)—

इन्द्री द्वार झरोखा नाना। जहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं विषय बियारी। ते हठि देहि कपाट उघारी॥

देखिये! इन्हीं शरीरमें बसने वाले चोरोंसे भयभीत होकर श्रीगोस्वामीजी श्रीसरकारजीसे क्या विनय कर रहे हैं—

मैं केहि कहों विपति अति भारी। श्रीरघुवीर! धीर हितकारी॥
मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आय बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बर जोरा। मानहि नहिं विनय निहोरा॥
तम, मोह, लोभ, अहंकारा। मद क्रोध बोध रिपु मारा॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मर्दहिं मोहि जानि अनाथा॥
मैं एक अमित बट पारा। कोउ सुने न मोर पुकारा॥
भागेहु नहिं नाथ! उबारा। रघुनायक करहु सम्हारा॥
कहि तुलसीदास सुन रामा। लूटहिं तस्कर तुव धामा॥
चिन्ता यह मोहि अपारा। अपजश नहिं होय तुम्हारा॥

अतः इन उपरोक्त धूर्तोंसे सावधान रहते हुए इन्हींसे बचनेके लिए ईश्वर-आराधना करनी चाहिए। इत्यादि—

पूज न सकै कुम्हार कुम्हारी एँठे *वाके कान।
एँठे वाके कान अज्ञ सो कछु न बसाई।
कठिन नारि बर जोर आपु दुख देय दिवाई।
काया किये कलेश कछू कारज नहि सरई।
बाँबी कूटे सर्प कहौ धौं कैसे मरई।
'अग्र' साधना वृथा सब जो न भजै भगवान।
पूज न सकै कुम्हार कुम्हारी एँठे वाके कान ॥१७॥

शब्दार्थ—पूज=बराबर, योग्य।(यह बुन्देलखण्डी बोलचाल की भाषाका शब्द है। यहाँ आधीन न कर सकनेके आशयमें घटित किया गया है) ऐंठे कान=मरोड़े, दुःख देवै। अज्ञ=मूर्ख। न बसाई=बस न चलना। कूटे=ठोके। साधन=उपाय, अनुष्ठान, शुभकर्म।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी महाराज कहते हैं कि जैसे कोई कुम्हार कुम्हारिनकी बराबरी न कर सके अर्थात् अपने अधीन न कर सके तो स्वयं उसके आधीन हो जाये और कुम्हारिन भी उसे मूर्ख समझकर अपना प्रभाव जमानेके लिए स्वयं उसके कान ऐंठे अथवा ऐंठवाये अर्थात् नाना-प्रकारके कष्ट स्वयं व दूसरोंके द्वारा दिलवाये और तब कुम्हार उसे अति प्रबल जान उसे छोड़ गधेके कान ऐंठने लगे, तो उसका गधे पर क्रोध करना सर्वथा व्यर्थ है। उस पर क्रोध

* अंगुली निर्देशात्मक भावसे गधेका भी बोध होता है।

दिखलाके जिस प्रकार यह कुम्हार कुम्हारिनका कुछ भी नहीं कर सकता। वैसे ही—

(दार्ष्टान्त)—जब ये जीवरूपी कुम्हार मायारूपी कुम्हारिन को अपने आधीन नहीं कर पाता है अर्थात् उससे विरक्त नहीं हो पाता है, तब तो स्वयं उसके (मायाके) आधीन हो जाता है। तब वह मायारूपी कुम्हारिन जीवरूपी कुम्हारको अज्ञानी तथा अपने आधीन समझकर अपना प्रभुत्व उस पर पूर्णतया स्थापित करनेके लिए जबरदस्ती बड़े-बड़े जबरदस्त दुःखोंको देती हैं। और दूसरों (कामादिक) से दिलवाती हैं।

यह ऐसी निर्दयी प्रबल-नारी हैं कि आयुके व्यतीत हो जाने पर भी जीवसे यम-यातनाओं व नरकादिके असह्य कष्टोंका सामना कराती है।

तब कुम्हाररूपी जीव इसे अत्यन्त शक्तिशाली जानकर गधारूपी शरीरको कष्ट देने लगता हैं अर्थात् आवेशमें आकर नाना-प्रकारके साधनादि करके शरीरको कष्ट देने लगता है, ताकि माया पर विजय हो। पर इससे कुछ भी काम नहीं बनता क्योंकि जिस प्रकार सर्पकी बांबीको कूटनेसे सर्प नहीं मरता है उसी प्रकार तनरूपी बांबीको कूटने (कष्ट देने) से सर्परूपी मायाजन्य विषय नष्ट नहीं होते हैं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि भगवान (षट्भगपूर्ण) श्रीसीतारामजीके भजे बिना(भज धातुसे सेवा,पूजा,अष्टयामादि) अर्थात् भावपूर्वक भक्ति किये बिना सब कष्टादिपूर्ण साधन व्यर्थ हो जाते हैं। अतः भगवान की भक्ति-पूजा-भजन इत्यादिसे ही यथार्थ निजस्वरूपकी प्राप्ति होती है। अन्यथा नहीं। यही उपाय इसे (मायाको) विजय करनेका है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि जीवकी जब मायासे पराजय हो जाती है। तो व्यर्थही आवेशमें आकर अपने शरीर पर जोर जनाता है। जैसे—

गधे से जीते नहीं गधई के कान मरोड़ें।

ये नहीं कि भजन द्वारा मायाको पराजितकर आत्मानन्दका लाभ प्राप्त करे।

टिप्पणी—कठिन नारि वर जोर आपु दुःख देय दिवाई—

श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि—

नारि स्वभाव सत्य कबि कहहीं। अवगुण आठ सदा उर रहहीं।
साहस अनृत चपलता माया। भय अविवेक असौच अदाया।

यहाँ तक कि—

अवगुण मूल सूल प्रद, प्रमदा सब दुःख खानि।

जब साधारण नारिवर्गकी ऐसी कठिनता तथा प्रबलता है तब फिर मायारूपी नारिके सदृश्य कौन कठिन (कठोर हृदय वाली) महाप्रबल स्त्री हो सकती है। जिसके विषयमें यही महात्मा गोस्वामीजी कहते हैं कि—

(इसकी कठिनता देखिये)

एक दुष्ट अतिशय दुःख रूपा। जा बस जीव परा भव कूपा।
सो माया बस भयहु गोसाईं। बँधौं कीट मर्कट की नाईं।

(इसकी प्रबलता देखिये)

अतिशय प्रबलदेव तुव काया। जेहि न मोह असको जग जाया।
शिव चतुरानन जाहि डराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं।

अतः यह अपने स्वाभाविक दुर्गुणोंसे तो जीवको दुःख देती ही है, साथ ही साथ अपनी फौज (परिवार) द्वारा दुःख देकर और भी जीवकी 'नाकोंमें दम' किये रहती है।

(इसके परिवारको देखिये कि कितना प्रबल है)

चौ०—मोह न अन्ध कीन किहि केहीं।
को जग काम नचाव न जेहीं॥
तृष्णा केहि न कीन बौराहा।
केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा॥

दो०—ज्ञानी तापस सूर कवि, कोविद गुण आगार।
केहि कै लोभ विडंवना, कीन्हि न यहि संसार॥
श्रीमद वक्र न कीन केहि, प्रभुता बधिर न काहि।
मृग लोचनि के नैन सर,को अस लाग न जाहि॥

चौ०—गुण कृत सन्यपात नहि केही।
कोउ न मान मद तज्यो निबेही॥
जोवन ज्वर केहि नहि बल कावा।
ममता केहि कर जस न नसावा॥
मत्सर काहि कलंक न लावा।
काहि न शोक समीर डुलावा॥
चिन्ता सांपिनि काहि न खाया।
को जग जाहि न व्यापी माया॥
कीट मनोरथ दारु शरीरा।
जेहि न लाग घुन को अस धीरा॥

सुत वित लोक ईषणा तीनी।
किहिके मति इन कृत न मलीनी ॥
यह सब माया कर परिवारा।
प्रबल अमित को बरने पारा ॥

इसीसे कहते हैं कि—

काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह की धार।
तिन महँ अति दारुण दुखद, मायारूपी नारि ॥

टिप्पणी—'अग्र' साधना वृथा सब जो न भजे भगवान— श्रीअग्रस्वामीजी महाराज कहते हैं कि भगवत्‌भजन बिना समस्त साधनादि (जप, तप, व्रत, संयम, नियम, योग, अर्थात् समस्त शुभकर्मादि) वृथा हैं अर्थात् साररहित है। क्योंकि—

(नारद पंचरात्र)

आराधितो यदि हरिस्तपसः ततः किम्।
नराधितो यदि हरिस्तपसः ततः किम्।
अंतर्वहिर् यदि हरिस्तपसः ततः किम्।
नअंतर्वहिर् यदि हरिस्तपसः ततः किम्।

दूसरे श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

आगम निगम पुराण अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका।
तुव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुन्दर।
जहँ लग साधन वेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी।

और बिना भगवत् भजन (हरिभक्ति) के साधनोंको देखिये—

सुन खगेश हरि भक्ति बिहाई। जे सुख चाहत आन उपाई।
ते शठ महासिंधु बिन तरणी। पैरि पार चाहत जड़ करणी।

अत:—

बारि मथे बरु होय घृत, शिकता ते बरु तेल।
बिन 'हरिभजन' न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल ॥

इसीसे श्रीअग्रस्वामीजी जीवके हितार्थ सर्वसुलभ सर्वोत्तम मार्ग 'हरिभक्ति' करना ही बतलाते हैं।

देखिये ! (विनयपत्रिका)

राम जपु राम जपु राम जपु बावरे।
एक ही साधन सब रिधि सिधि साधि रे।
ग्रसे कलि रोग जोग संयम समाधि रे। इत्यादि।

प्रीतम बात न बूझई धरो सुहागिन नाउ।
धरो सुहागिन नाउ विषय कुटनी बहकावै।
व्यभिचारिन वे गुनो नाह नेरो नहिं आवै।
हृदय शुद्धि बिन नारि कहां ते खसम पिछाने।
बातन को पतिवर्त कन्त कोविद क्यों माने।
'अग्र' कहे या चाल से कैसे स्वामि सुहाउ।
प्रीतम बात न बूझई धरो सुहागिन नाउ ॥१८॥

शब्दार्थ—सुहागिन=सौभाग्यवती, पति वाली। कुटनी=दूती, गुप्तचरी (अपनी कूटनीति द्वारा, नायक-नायिकाको

व्यभिचारमें रत करने वाली)। नाह=पति। नेरो=निकट। बूझई=पूछता। कोबिद=पंडित, ज्ञानी, निपुण।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे किसी नारीका पति उससे बात तक न करे, और वह सुहागिन बनी फिरे। वैसे ही—

(**दार्ष्टान्त**)—इस आत्मारूपी नारीके परमात्मारूपी पति तो कभी ख्याल नहीं करते और यह पति वाली बनी फिरती है। जो कि यह (आत्मा) नित्य परमात्माकी अनन्तकालसे संगिनी (सुहागिन) है पर विषयरूपी कुटनीने इसे अपने वश करके इसे अनित्यमयी बना रखा है, क्योंकि यह कुटनी अपनी मायासे इसे बहकाकर विषयमें रत कराती है। इससे इसे व्यभिचारिन (महापतित) समझकर नाथ अर्थात् पतिरूप परमात्मा, इससे प्रेम करनेके लिए इसके पास आने की तो बात ही क्या है, कभी बात तक भी नहीं पूछता। यदि ये कपट छोड़कर अपने पतिसे केवल शुद्ध-हृदयसे प्रेम करे तो इसका पति भी इससे प्रेम करे,पर यह ऐसा नहीं करती। अतः पति भी इसे व्यभिचारिन समझकर इससे प्रेम नहीं करता है।

यह स्वयं शुद्ध-हृदय न होनेसे अपने पतिको नहीं पहचान रही है कि हमारा पति कैसा समर्थ तथा अन्तर्यामी है और वह हमसे क्यों अलग रहता है? इत्यादि—

क्योंकि यह विषयरूपी कुटनीसे मिली हुई अपनेको परम चतुरमान व्यभिचारमें परमसुखी हो रही है और ऊपरसे नाना प्रकार की बातोंसे पतिव्रत बतला रही है। भला आप ही बतलाइये। कि इसका कन्तरूपी प्रभु जो परमसमर्थ, घट-घटका व्यापक, सर्वअन्तर्यामी, सर्वज्ञ जिससे कुछ भी नहीं छिप

सकता उसको ये व्यभिचारिन बातोंसे पतिव्रत बतलाये तो वह कैसे इसे सच्ची समझकर इसके पास आ सकता है,चाहे ये बातों से कितनी ही सद्चरित धर्मधुरीन बने ।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि इस (उपरोक्त) चालसे जीवात्माको परमात्मा व परमात्माको जीवात्मा कैसे सुहा (अच्छा) लग सकता है । क्योंकि इस जीवात्माने यहाँ दिखावटी प्रीतमप्रभु-प्रेमका वमण्डल जाल रच रखा है यथार्थमें कुछ नहीं है यह तो विषय-सुखमें तन्मय हो रही है ॥१८॥

टिप्पणी—हृदय शुद्ध बिन नारि कहाँ से खसम पिछाने—शुद्ध-हृदय उसे कहते हैं जिस हृदयमें किसी भी प्रकारके कपटका लेशमात्र भी न हो ।

जैसे कपटपूर्ण हृदय वाली स्त्री यानी व्यभिचारिनी स्त्री अपने पतिके गौरवको तथा पतिव्रतके महत्वको नहीं जान सकती है, और उसका स्नेह भी एक ❀स्थानमें केन्द्रित नहीं हो सकता है । इसीसे इसको कहीं भी शान्ति, सुख नहीं प्राप्त हो पाता है । और अन्तमें अपने इस कपट (व्यभिचारि) के प्रायश्चित्तमें उसे अनेकों दारुण विपत्तिग्रस्त संकटोंका सामना करना पड़ता है ।

वैसे ही यह आत्मारूपी नारी विषयोन्मत्त होकर अपने यथार्थ पति(श्रीपरमप्रभु)के गौरव तथा अपने पतिव्रतके महत्वको नहीं पहचानती है । और व्यभिचारिन बन विषय-सुखको ही अपना सब कुछ समझती हुई उसीके फंदमें फँसकर अपने यथार्थपति (श्रीप्रभु) को भूल, नाना-प्रकारके विषयजन्य कष्ट

❀ एक मति बहु ठौर लगावै, निश्चय वस्तु मर्म नहिं पावै ॥
(श्रीकृपानिवासजी)

सहती है। और अपने यथार्थ सुख-शान्तिसे सर्वथा वंचित रह जाती है।

और ठीक ही है। क्योंकि—स्वयं श्रीरामजी कहते हैं—

जो पै दुष्ट हृदय सो होई। मोरे सन्मुख आव कि सोई॥
निर्मल मन जन सो मोंहि पावा। मोंहि कपट छलछिद्र न भावा॥
(श्रीरामचरितमानस)

इसी न्यायानुकूल इसको अशुद्ध-हृदय (कपटपूर्ण, व्यभिचारिन) जान परम-पावन पति प्रभुजी भी इसे नहीं अपनाते।

टिप्पणी—कंत कोविद क्यों माने—कहनेका तात्पर्य यह है कि यदि कंत (पति) ऐसा-वैसा यानी अज्ञानी व यथार्थ बातसे अनिभिज्ञ हो, तो नारीका बातोंका पतिव्रत भी चल जाय। परन्तु आत्मारूपी नारीका परमात्मारूपी पति परमसमर्थ, सर्वज्ञ तथा सर्बअन्तर्यामी है। उसके सामने इसका इन बातोंका पतिव्रत कैसे चल सकता है। वह इसको कपटपूर्ण जानकर शुद्ध-हृदय वाला कैसे समझ सकता है? अर्थात् नहीं समझ सकता है।

कोऊ काहू को नहीं देखो ठोक बजाय।
देखो ठोक बजाय नारि पट भूषण चाहे।
सुत सोखत नित रुधिर सुता परतछ अवगाहे।
तात मातु कर बैर बन्धु नित चित्त बिगारे।
स्वारथता के सजन दास दासी दहि गारे।
'अग्र' काम हरिनाम से संकट होत सहाय।
कोऊ काहू को नहीं देखो ठोक बजाय॥१६॥

शब्दार्थ—ठोक बजाय=परीक्षा करके। परतछ=प्रत्यक्ष उपस्थितिमें ही। अवगाहे=अति गंभीर, (अति नम्रतायुक्त) होना पड़ता है। दहिगारे=दुःख देते हुए (हृदय जला-जलाकर) रगड़ना।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि इस संसारमें यथार्थतः कोई किसीका नहीं है। हमने यह खूब परीक्षा कर देख लिया है, और यदि विश्वास न हो तो परीक्षा कर देख सकते हो। एक प्रभुजीको छोड़ सब अपने मतलबसे एक-एकके सहायक (सगे) बनते हैं।

(दार्ष्टान्त)—देखो नारी जो समस्त जगको अपने आधीन किये हैं अर्थात् प्रेम-द्वारा सबको अपने बस कर लेती है, सो केवल वस्त्राभूषणों तथा भोगोंके लिए ही प्रेम करती है। इसमें निस्वार्थ प्रेम कहाँ ? लड़के-लड़कियोंकी कहो, तो पुत्रोंके लिए ही दुनियां ❀ नाना-प्रकारके घटकर्म कर अपना सुजीवन खोते हुए सदैव अपना रुधिर ❀ सुखाते हैं। क्योंकि उन्हें तो रात-दिन इच्छानुकूल माँगना ही है।

पुत्रियोंके ही कारण जीवको प्रत्यक्ष नीचा देखकर दूसरों (प्राकृतजनों) के सामने हाथ-जोड़कर खड़ा रहकर सिर नवाते हुए नाना-प्रकारके नम्रतायुक्त कर्म करने पड़ते हैं तिस पर भी

❀दुनियांसे, जगत्-जन, का तात्पर्य है।

❀सन्तानों ही की चिन्तामें सदैव चिन्तित रहते हैं। और चिन्तासे रुधिर सूखता ही है। गिरधर कविजी कहते हैं—

कुं०—चिन्ता ज्वाल शरीर की बन दावा लगि जाय।

खून मास जरि जाय रहै हड़रिन की टट्टी। इत्यादि

उससे उऋण नहीं होता अर्थात् ये भी द्रव्य ही की ग्राहक हैं। इसके अतिरिक्त माता-पिता (जन्म देने वाले) ही संतानके बड़े होने पर द्रव्यके ही कारण उनसे विरोध करने वाले बनते हैं। और बंधुगण तो सदैव ईर्ष्या द्वेषादिकसे चित्तको बिगारते ही रहते हैं। इसी प्रकार सब सजन, सनेही तथा सगे स्वारथके ही प्रेम करने वाले हैं परमार्थ वाले कोई नहीं, बल्कि परम परमार्थ रूप श्रीप्रभुके चरण-कमलोंसे छुड़ाने वाले ही हैं अतः नौकरों की तो बात ही क्या है (जबकि सगोंका ये हाल) जो सदैव मांग मांगकर जलाते अथवा दुःख देते रहते हैं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि अन्त समय व संकटमें श्रीसीतारामजीके नामसे ही काम पड़ेगा व संकट कटेंगे। अर्थात् यही नाम सहायक होगा। इसये श्रीसीतारामजीके ही स्मरणका सदैव भरोसा रखते हुए जीवको उनका भजन करना चाहिए, जो सर्वदा समय पर उत्तम काम दें, क्योंकि जब उपरोक्त कुटुम्बी समय पर काम नहीं आते तो और कौन संसारमें काम दे सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥१६॥

टिप्पणी—कोऊ काहू को नहीं—कहनेका तात्पर्य यह है, कि इस संसारमें कोई किसीका नहीं है अर्थात् सब अपने-अपने मतलबी हैं। नारी, पुत्र, कुटुम्बादि जिसको ये जीव अपना समझता है वह भी, समय पर काम नहीं देते और न कोई कष्ट बांट सकते हैं। अपने-अपने कर्मानुकूल सब स्वार्थ व्यवहारमें स्थित हैं। क्योंकि विपत्ति-समय इसका अनुभव हो जाता है। और बुढ़ापेमें तथा मरते समय तो इसका यथार्थ अनुभव हो ही जाता है।

जैसे कि श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

मन पछितैहै अवसर बीते।

दुर्लभ देह पाय हरि पद भज कर्म बचन अरु हीते।
सहस बाहु दश बदन आदि नृप बचे न काल बलीते।
हम हम कर धन धाम सँभारे अंत चले उठि रीते।
सुत बनितादि जानि स्वारथ रत न कर नेह सबही ते।
अंतहुँ तोहि तजेंगे पांवर तू न तजै अबही ते।
अब नाथहिं अनुराग जाग जड़ त्याग दुराशा जीते।
बुझै न काम अग्नि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घीते।

(यह पद कुण्डलियासे कैसा सादृश्य रखता है)

पुनः—

जग नभ बाटिका रही है फलि फूल रे।
धुआं कैसो धौरहर देख तू न भूल रे॥
राम नाम छाड़ि जो भरोसो करै और रे।
तुलसी परोसो त्याग मांगै कूर कौर रे॥

यहाँ तक कि—

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहु प्रभु परमारथ नाहीं॥

इत्यादि—

'अग्र' काम हरिनाम से संकट होत सहाय।

यानी समय पड़ने पर तुझे श्रीहरिनामका ही एकमात्र अवलंब धारण करना पड़ेगा। तभी तू उस संकटसे पार हो

सकेगा अन्यथा नहीं। अथवा हरिनाम ही संकटके समय काम देता है (सहायता करता है) क्योंकि इस युग (कलिकाल) में यही जीवके लिए परमोत्तम अवलंब है। जैसे कि—

नहिं कलि कर्म न धर्म विवेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥
सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु पर लोक निबाहू॥
नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।
जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होय सुखारी॥
नाम अनेक गरीब निवाजे। लोक बेद बर बिरद बिराजे॥

तुलसी तिलोक तिहू काल तोसे दीन को।
रामनाम ही की गति जैसे जल मीन को॥

अथवा—

भलो जो है पोच जो है दाहिने जो वाम रे।
रामनाम ही सो अंत सबही को काम रे॥

इत्यादि—

जैसे कंता घर रहो तैसे गयो विदेश।
तैसे गयो विदेश लोक परलोक न साध्यो।
पुर पट्टन बहुफिरो ताप तीनो मिल दाह्यो।
किय न सनेही श्याम भजन बिन जन्म गँवायो।
मनो गोय चौगान जहाँ तहँ दश दिशि धायो।
'अग्र' स्वामि अनुराग बिन नहीं धर्म को लेश।
जैसे कंता घर रहो तैसे गयो विदेश॥२०॥

शब्दार्थ—कंता=पति। साध्यो=सुधारा सम्हाला। पुर=नगरी। पट्टन=शहर। गोई=छिपा-छिपा कर। चौगान=एक खेल विशेष, गेंद खेलनेका स्थान, लम्बा चौड़ा मैदान।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं जैसे कोई कुछ प्राप्त करनेकी इच्छासे परदेश जावे और वहाँ जाकर अपने घरसे लाई हुई पूंजी तक खो बैठे अथवा घरकी सुधि भुला कुछ भी पुरुषार्थ न करे। तो यह उपरोक्त वाली कहावत 'कि जैसे कंता घर रहे तैसे गये विदेश' शब्दशः चरितार्थ हो जाये। क्योंकि उनका परदेश जाना न जाना बराबर है इससे अच्छा तो वह घर ही रहते। व्यर्थका परिश्रम उठाया और प्राप्त कुछ भी न कर सके। वैसे ही—

(दार्ष्टान्त)—जीव ईश्वर-प्राप्ति की इच्छासे परदेशरूपी मृत्युलोकमें जीवन धन (पूंजी) लेकर आता हैं, अर्थात् जन्म लेता हैं। यदि इसने यहाँ आकर अपने परलोकरूपी घरकी सुधि भुलाकर भजनरूपी पुरुषार्थ न करके अपना जीवन व्यर्थ खो दिया,तो इसका जन्म न लेना बराबर ही है। अर्थात् यदि जीवने मृत्युलोकमें आकर लोक-परलोक दोनोंका यथोचित भली प्रकारसे न निर्वाह किया, तो इसका जन्म-मरणका परिश्रम व्यर्थ ही है। वह मृतकवत् संसारमें जीवित रह रहा है।

ये (जीव) बहुत पुरियोंमें घूमता-फिरता (नाना-योनियोंमें भटता फिरता) है, परन्तु इसकी त्रैतापें नष्ट नहीं होती अर्थात् सदैव दैहिक, दैविक, भौतिक तापोंमें ही जला करता हैं। क्योंकि परमशान्ति देने वाले व परमस्नेह करने वाले, श्रीश्यामसुन्दरजी के चरण-कमलोंसे यह प्रेम नहीं करता है, कि जिनकी कृपासे

इसके सब अकर्म क्षय होकर इसकी यह तीनों तापें दूर हो सकती हैं। परन्तु यह उनका स्मरण विस्मरणकर नर-तन सदृश्य उनकी प्राप्तिका हाथमें आया हुआ सुअवसर भी अपने भजनरूपी पुरुषार्थके बिना खो देता है। इस प्रकार इसका नर-जन्म सर्वथा व्यर्थ हो जाता है।

ये अपनी मनरूपी गेंदको जगतरूपी चौगानके दशों दिशाओं में व्यर्थको ढुरलाता फिरता है,अर्थात् स्थिर मन नहीं कर सकता है। क्योंकि भजनरूपी पुरुषार्थसे मन स्थिर होता है और तब शान्ति सुख प्राप्त होता है।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि श्रीसीतारामजीके चरण-कमलों में हार्दिक-अनुराग बिना यह जीव नाना-प्रकारके भटभेरे खाता फिरता है, अर्थात् जोग, तप, नेम, व्रत संयम व अनेकों साधन कर कष्ट सहता है, परन्तु धर्मका लेश भी प्राप्त नहीं कर पाता है। क्योंकि—

श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

रामनाम सब धर्ममय जानहु तुलसीदास।

तथा—

सो सब धर्म कर्म जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥

इत्यादि—

अतः जिसमें भजनरूपी पुरुषार्थ (मर्दपन) नहीं है वह नपुंसक पुरुषके सदृश्य चाहे घरमें रहे चाहे परदेश(यानी लोक-परलोकमें) दोनों जगह सुख-शान्तिरूपी नारीके लिए बराबर ही है, अर्थात् उसे किसी प्रकारका विश्राम नहीं प्राप्त हो सकता है। अस्तु।२०।

टिप्पणी—लोक-परलोक न साध्यो—कहनेका तात्पर्य यह है कि इस संसारमें जो जीव, मनुष्य-जन्म (क्योंकि अन्य जीवोंको ऐसा बुद्धियोग कहाँ ?) पाकर भी अपने यथार्थ कार्य(प्रभुप्राप्ति) को भलीभाँति न बना सकें, तो उनका मनुष्य शरीर धारण करना, न करनेके बराबर है अर्थात् नितान्त निरर्थक है।

जैसे गोस्वामीजी—

राम से प्रीतम की प्रीति रहित जीव जाय जियत।

तथा—

तुलसी राम सनेह शील लखि जो न भगति उर आई।
तो तोहि जनमि जाय जननी जड़ तनु-तरुणता गवाई॥

क्योंकि यह नर-देह बड़े-भाग्यसे प्रभुकी आपारकृपा द्वारा प्राप्त होती है।

जैसे कि गोस्वामीजी कहते हैं—

बड़े भाग्य मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सद्ग्रन्थन गावा॥

जिसे—

कबहुंक करि करुणा नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

दूसरे केवल यही शरीर समस्त साधन करनेमें पूर्णतया समर्थ है क्योंकि—

साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाय न जेहि परलोक सम्हारा॥
(श्रीगोस्वामीजी)

यदि कहो कि—

हानि लाभ जीवन मरण, जस अपयश विधि हाथ।

यदि मनुष्यके हाथमें कर्तव्यका फल नहीं तो कुछ न कुछ कर्तव्य तो अवश्य है ही, अतः यदि इस कर्तव्यका वह

योग्यतानुसार उपयोग न कर सका तो उसके जन्मसे ही क्या लाभ हुआ।

देखिये गोस्वामीजी—

भल भारत भूमि भला कुल जन्म समाज शरीर भलो लहिके।
ममता करखा तजि के वर्षा हिम मारुत घाम सदा सहिके।
जो भजे भगवान सयान सोई तुलसी हट घातक ज्यों गहिके।
न तु और सबै विष बीज बये हर हाटक कामधुका नहिके।

अथवा—

जो न तरै भव सागर, नर समाज अस पाय।
सो कृत निंदक मंद मति,आतम हन गति जाय।।

अतएव जिसने लोकमें रहकर इसको निर्वाह करते हुए परलोकको न सम्हाल लिया (हरिभजन द्वारा) उससे सर्व दुर्गुन सम्पन्न और कौन होगा ?

और जिसने लोकमें रहकर अपने यथार्थ-कर्तव्य पर ध्यान दे (हरिस्मरणसे परलोक प्राप्त करना) यथाशक्ति उसका पालन कर लिया वही महान् चतुर सदा सर्वगुण सम्पन्न अति सराहनीय है।

तो लोक-परलोक दोनों किस प्रकार सम्हल सकते हैं, अर्थात् उभयलोकमें किसके द्वारा जीवको सुख प्राप्त हो सकता है ? इसके उत्तर में देखिये—

श्रीरामजीका अवधपुरवासियोंके प्रति कथन—

जो परलोक यहां सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू।।
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुराण श्रुति गाई।।

(श्रीगोस्वामीजी)

उसीको श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि भक्ति द्वारा ही मनुष्य इस लोक तथा परलोकको भलीभाँति निर्वाहता हुआ आत्मानन्द प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं ।

टिप्पणी—मनो गोय चौहान जहां तहँ दश दिशि धायो—

ये जीव अपने अन्तःकरणरूपी हृदय चौगानमें अपने मनको छिपा-छिपाकर, दशों-दिशाओं यानी दशों-इन्द्रियों की ओर चंचलतापूर्वक दौड़ लगाता रहता है और उन्हीं विषयोंके विवश हो चारों ओर जगत्में मारा-मारा फिरता रहता है । अथवा—

इस संसारमें अपनी मनरूपी गेंदको जहां-तहां छिपाता अथवा ठुकराता फिरता है अर्थात् पंच-विषयमें पड़कर ठोकरें खाता फिरता हैं । इस तरह ये जीव कहीं भी विश्राम प्राप्त करनेमें असमर्थ रहता है । क्योंकि वह अपने मनको विषयोंसे रोककर स्थिर करनेका प्रयत्न नहीं करता है । पुनः मन तो स्वभावसे ही अति चंचल(वेग वाला) है यह काहेको अपने आप स्थिर होगा ?

जैसे श्रीगोस्वामीजी—

कबहूं मन विश्राम न मान्यो ।

निशिदिन भ्रमत विसारि सहज सुख जहां तहां इन्द्रिन तान्यो ।
जदपि विषय संग सहे दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो ।
तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानत हूं नहिं जान्यो ।

इत्यादि—

रानी राय शृङ्गार पट धोबिन के धुवरोट ।
धोबिन के धुवरोट कियो दुर्लभ मानुष तन ।

सुलभ विषय सब योनि वृथा आधीन जगत जन।
कौड़ी कामिन कुटुम तिनै हित हीरा हार्यो।
बंजारे के बैल थके जब मग में डार्यो।
नेक न लागो रामपद 'अग्र' बड़ी यह खोट।
रानी राय भृङ्गार पट धोबिन के धुवरोट ॥२१॥

शब्दार्थ—धुवरोट=धोबीके कपड़े धोनेका बड़ा बर्तन व कपड़े धोनेका घाट वाला पत्थर, धोबी घाट। बंजारा=व्यापारी, बनियां, सौदागर, व्यापारकी वस्तुओंको बैलों पर लादकर एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तोंको ले जाते थे। उस समय व्यापार ज्यादातर इन्हींके द्वारा ही होता था इससे इनकी संज्ञा उस समय 'सार्थवाह' या 'सौदागर' थी। खोट=दुर्गुण, अवगुण, भूल।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे राजारानीके पहिननेके कपड़े, जिन्हें कोई छू भी नहीं सकता है, धोबीके यहाँ मैलागारमें बिना कोई सम्मानके और कपड़ोंकी भाँति जमीनमें ही अछूत पड़े रहते हैं। वैसेही—

(दार्ष्टान्त)—यह जीवात्मायें श्रीसीतारामजी की सेवापात्र होती हुई भी अविद्यारूपी धोबिनके बशीभूत हो, उसके मैलागार में अछूत यानी पतित हो पड़ी हुई हैं।

अतः हे जीव! ऐसे देवदुर्लभ मानुष तनको पाकर (जो धुलनेका घाट ही हैं) क्यों धुवरोट (घाटके पत्थर) पर पड़े हुए हो? क्योंकि इसी शरीरसे ही तुम धुलकर निकल सकते हो। क्यों ऐसा सुअवसर खोये देते हो?

कहनेका तात्पर्य यह है कि और योनियां तो मैलागारमें

पड़े हुए कपड़ोंके सदृश्य हैं और मनुष्ययोनि घाटके पत्थर पर पड़े हुए कपड़ों की तरह है कि जो लगभग धुल ही चुके हैं केवल छटने-भर की (निचोड़ने सूखने, स्त्री वगैरह करने को) हैं। सो फिर परमात्मारूपी राजाके सेवापात्र हो सेवाके योग्य हो जानेको है और जो न छट पाये तो फिर मैलागारमें पड़े तो न जाने कब फिर घाट पर आनेका सुअवसर मिले इससे क्यों अवसर खोये देते हो।

देखो ! विषयवश होकर तुमने किन-किन योनियोंमें पदार्पण नहीं किया, पर इन्द्रियां विषयसे तृप्त न हुई और न ऐसे हो सकती हैं और तुम भी जानते हो कि विषय तो सभी योनियोंमें सुलभ हैं, जिसके लिए सारा-संसार वृथा वे-वश हो रहा है। परन्तु हरिस्मरण केवल इसी योनिमें ही सुलभ है, जिससे तुम्हें शान्ति-सुख प्राप्त हो सकता है।

यह जीव अति परिश्रमसे कौड़ी-कौड़ी स्त्री कुटुम्बीजनोंके लिए सम्पत्तिको जोड़ता है। और जान-बूझकर कि ये कुटुम्बी सब मतलबी हैं। अन्तमें कोई काम न देगा अपने हाथसे अमूल्य जीवन की अमूल्य स्वासायें जिनसे हरिस्मरणरूपी हीरा प्राप्त कर सकता है। वृथा खो देता है।

इतने पर भी कुटुम्बी (जिनके लिए तू ये हीरा-सा जीवन दे रहा है) इसे बंजारेके बैल की तरह जोतते हुए, शक्तिरहित हो जाने पर लापरवाहीसे गलीमें ही (सांसारिक कष्टोंमें) छोड़ देते हैं। तब ये सिर धुनि-धुनि पछिताता है।

जैसे कि श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि—

मन पछितैहै अवसर बीते।

अंतहुँ तोहि तजेंगे पाँवर तू न तजै अबही ते ।

इत्यादि—

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जीव यह बड़ी-भारी त्रुटि करता है कि श्रीसीतारामजीके चरण-कमलोंमें जरा भी नहीं लगता और न उनका स्मरण ही करता है। जिसके कारण ही यह इतने बड़ेका कृपापात्र होकर भी मायारूपी धोबिनके धुवरोटमें पड़ा हुआ है ॥२१॥

टिप्पणी—सुलभ विषय सब योनि अर्थात् जीवको प्रत्येक योनियोंमें विषय (इन्द्रियार्थ वस्तु, भोग-विलास) प्राप्त ही है। पर न मालूम इस जगत्में मनुष्ययोनिमें आकर भी जीव इसे ही अलभ्य-लाभ समझ धर्माधर्मका कुछ भी ख्याल न कर व्यर्थको इसके लिए नाना-भड़भेड़े क्यों खाता फिरता है। और अपने मुख्य-कार्यको बिल्कुल विस्मरण कर हाथमें आया हुआ सुअवसर अज्ञानके वशीभूत हो खो देता है। बताओ इसके समान मूर्ख कौन है ? क्योंकि—

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्य मेतत् पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

(हितोपदेश)

श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि—

लाभ कहा मानुष तन पाये ।

\+ \+ \+

जो सुख सुर पुर नरक गेह बन आवत बिनहिं बुलाये ।
तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन समुझत नहिं समुझाये ।

\+ \+ \+

भय निद्रा मैथुन अहार सबके समान जगजाये।

+ + +

तुलसीदास यह अवसर बीते का पुनि के पछिताये।

अत: इस योनि (मनुष्यजन्म) से जो अलभ्य-लाभ हो सकता है कि (ईश्वर-प्राप्ति) जीवको उसे प्राप्त करनेसे न चूकना चाहिए।

टिप्पणी—बंजारेके बैल थके जब मगमें डार्‌यो—

जिस तरह बंजारे (सौदागर जो बैलों पर माल लादकर जगह-जगह बेचते हैं) बैलके थक जाने पर उसका बोझ थोड़ा-थोड़ा और बैलों पर लादकर उसे रास्तेमें ही वैसा ही छोड़ चले जाते हैं—

यह ख्याल न करके कि जब तक यह शक्तिमान रहा तब तक तो हमने इससे भरपूर काम लेकर अपना स्वार्थ साधन किया, अब हम इसकी जरा भी परवाह न करते हुए इसे इसी तरह क्यों छोड़कर जाते हैं। हमको इसका पूर्वका ऐहसान न भूलना चाहिए। और इसकी अब मदद करना हमारा परमधर्म है। इत्यादि—

इसी तरह कुटुम्बादि सांसारिक इष्ट, मित्र भी जीवको जब तक स्वार्थ साधता रहता है तब तक चाहते हैं और ज्योंही वह उनकी आशा पर निर्भर हो जाता है तब वह उसी बंजारेके बैल की कहावत चरितार्थ कर उसको उसी दशामें छोड़ देते हैं। अर्थात् सांसारिक कष्टमयी अवस्थामें उसको कोई सहायता नहीं करते अथवा कर पाते हैं।

जैसे कि श्रीगोस्वामीजी कहते है—

सो प्रगट तनु जर्जर जरावस, ब्याधि सूल सतावई।
सिर कंप, इन्द्रिय-शक्ति-प्रतिहत, बचन काहु न भावई।
गृहपाल हू ते अति निरादर, खान पान न पावई।
इत्यादि—

(विनयपत्रिका)

पुनः

अंतहु तोहि तजेंगे पांवर, तू न तजै अबही ते।

(विनयपत्रिका)

अग्र बड़ी यह खोट—

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि यही जीव बड़ी त्रुटि करता है कि इस मायाजन्य मिथ्या सुखको लालायित हो सांसारिक विश्वासमें पड़ विश्वनाथ श्रीसीतारामजीके भजनको बिल्कुल विस्मरण कर देता है। जो इसका यहाँ आनेका मुख्य कर्त्तव्य है पर यह ऐसा जानते हुए भी धोखा खा जाता है। और अपने देव-दुर्लभ मनुष्य-जीवनको व्यर्थ कर देता है। क्योंकि—

जानपनी को गुमान बड़ो, तुलसी के बिचार गँवार महां है।
जानकी जीवन जान न जान्यो, तौ जान कहावत जान्यो कहा है।

पुनः

नर देह कहा करि देख विचारु बिगार गँवार न काजहि रे।
जनि डोलहि लोलुप कूकर ज्यों, तुलसी भज कौशल राजहि रे।

अथवा

गज बाजि घटा, भले भूरि भटा, बनिता सुत भौंह तकें सब वै।
धरनी धन धाम शरीर भलो, सुर लोकहु चाहि इहै सुख स्वै।

सब फोकट फाटक है तुलसी, अपनो न कछू सपनो दिन द्वै।
जरिजाउ सु जीवन जानकीनाथ,! जिये जगमें तुम्हारो बिन ह्वै।
(श्रीगोस्वामीजी, कवितावली)

सखी पराये पीठ ते कहां तुरावै गाल।
कहां तुरावै गाल अज्ञ मानत जग अङ्गी।
आवत कोहै साथ चलत कहु काके सङ्गी।
ठगिया कुटुम जमात सबै स्वारथ को जोवै।
जिनको सज्जन गिने तेऊ लूटैं अरु रोवै।
'अग्र' स्वामि भज रामको तजो आल जंजाल।
सखी पराये पीठ ते कहां तुरावै गाल ॥२२॥

शब्दार्थ—पराये=दूसरे के। तुरावै=छिपावै, छुटावै, बचावै। जमात=समूह। आल=विष, हरताल, हरिद्रावर्ण। जंजाल=प्रपंच, उलझन, दुःख। अङ्गी=प्रधान शरीरका ही, शरीर वाला। इत्यादि—

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीअग्रस्वामीजी (सखीरूप आत्मासे) कहते हैं कि हे सखी ! जैसे अपने यार (पराये पति) से पिटी हुई नायिकाका अपने पतिके सामने जानेका साहस नहीं होता, क्योंकि वह उसके (यारके) पीटनेके चिन्ह जो शरीर (गाल) पर पड़ गये हैं कैसे कहाँ छिपा सकती है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही आत्मारूपी नारीका अज्ञानरूपी (यार) पराये पतिसे पिटकर (पापकर्म कर उनके फलभोग

यानी कामादिकके वशीभूत नाना-प्रकारके कष्ट सहकर) अपने ❀ ज्ञानरूपी पतिके सामने जानेका साहस नहीं होता है। क्योंकि उसके सामने इसके पिटनेसे चिन्ह कैसे छिप सकते हैं।

इससे हे जीव जो तू ईश्वरका अंशभूत होते हुए, क्योंकि—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥
सो माया बस भयउ गुसाईं। बँधो कीर मरकट की नाईं॥

(श्रीगोस्वामीजी)

अज्ञानवश जगत्को अपना कारणभूत मान रहा है जो सर्वथा मिथ्या भ्रमरूप है। और इसीसे तू ईश्वरसे विमुख हो नाना-कष्ट सह रहा है क्योंकि यदि जगत् तेरा अङ्गी होता तो तेरे साथ आता-जाता, पर ऐसा नहीं होता है। तू अकेला ही आता-जाता है भला तू ही बता कि तेरे साथ कौन आता-जाता है, अर्थात् कोई नहीं इससे ये परिवार व कुटुम्बीजन सब ठगिया (जीवन-धन ठग लेने वाले) हैं जो सदैव अपने स्वार्थके लिए तुझे जोहते रहते हैं (ताकते रहते हैं)। जिनको तूं अपना हिती व सज्जन जानता है वही अन्त-समय तुझसे पूछते हैं कि 'कहां क्या रखा है' (जमीनमें गड़ी हुई द्रव्यको) और पूछते-पूछते रोते हैं तेरी कुछ भी सहायता नहीं कर सकते। ये इस प्रकार देखनेमें तो रोते हैं और मुख्यतः अपने स्वार्थमें लगे हैं और मरनेके बाद सब ले लेते हैं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव ! ऐसा समझकर (ऊपर कथनानुसार) जगत्के समस्त झंझटोंको छोड़कर

❀ ज्ञान अखंड एक सीतावर। माया वस्य जीव सचराचर॥

अपने परमप्रभु परात्पर श्रीसीतारामजी, जो अपने सर्वश्रेष्ठ हित पतिरूप हैं, उनका भजन कर, नहीं तो तुझे अज्ञान (माया) रूपी यारका पीटना सहना पड़ेगा अर्थात् पापोंका कष्ट भोगना पड़ेगा और फिर उसके चिन्ह तू कैसे छिपायेगी ।।२२।।

टिप्पणी—अज्ञ मानत जग अङ्गी—मूर्ख जीव, अज्ञानके वशीभूत हो, जगत्को अपना अङ्गी मानते हैं यानी संसारको ही अपना प्रधान (सर्वस्व) समझते हैं।

कहनेका तात्पर्य यह है कि वे संसारके भ्रमपूर्ण, मृग तृष्णावत् क्षणिक सुखोंको ही परमसुख मानकर जगत्को ही अपना परमकारण तथा परमहितैषी जानते हैं। वे यह नहीं समझते हैं कि हमारा आदिकारण, परमहितैषी, सर्वप्रधान, एक ईश्वर ही है जो इस जगत्के कारणोंका भी कारण है। क्योंकि-

जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू। मायाधीश ज्ञान गुण धामू॥
सब कर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधिपति सोई॥

दूसरे—

ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती।

(श्रीगोस्वामीजी)

पर अज्ञानके वश जीवको जगत् अपना अङ्गी समझ पड़ता है। जैसे कि—

बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं प्रहादी। कहहिं परस्पर मिथ्या वादी॥
नौका रूढ़ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपहि लेखा॥

इत्यादि—

टिप्पणी—तजो आल जंजाल–श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव ! संसारमें सबको ही अपना-अपना मतलबी समझ, उनके भ्रमपूर्ण विश्वासमें न फँसते हुए तुझे हरतालमयी (कि देखनेमें सुन्दर पीतरंगका और खानेमें विषकी भाँति अति दुःख देने वाला) इस संसारी प्रपंचोंमें न पड़ना चाहिए। क्योंकि यह जाल अति दारुण दुःख देने वाला है। इससे फिर सुलझना बड़ा कठिन हो जाता हैं। अतः इसका हृदयसे त्याग ही सर्वसुखदाता है। क्योंकि—

जाति पांति धन धर्म बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई ।।
सब तजि तुम्हहिं रहहि लवलाई। तेहि के हृदय बसहु रघुराई ।।
(श्रीगोस्वामीजी)

भुस ऊपर को लीपनो अरु बालू की भीत।
अरु बालू की भीत भूत की मनो मिठाई।
बाजीगर को बाग स्वप्न में नव निधि पाई।
अज स्थन ज्यों कण्ठ तुक्ष बादर की छाया।
पूरब वस्तु बिसारि पश्चिम दिशि ढूढ़न धाया।
आन उपासन राम बिन 'अग्र' सो ऐसी रीत।
भुस ऊपर को लीपनो अरु बालू की भीत ।।२३।।

शब्दार्थ—भुस=छिलका, चूरा, भूसा, चोकर। लीपनो=गोबर पानीसे जमीन पोतनेको लीपना कहते हैं यानी चौका लगाना। निधि=संपत्ति, ९ निधियां। उपासना=आराधना, सेवा परिचर्या।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे

भुसके ऊपरका लीपना व बालू की दीवाल, भूत की मिठाई, बाजीगरका तमाशेमें लगाया हुआ बाग, स्वप्नमें प्राप्त की हुई संपदा तथा बकरीके कंठके लटकते हुए थन केवल देखने मात्रके हैं यथार्थमें कोई कामके नहीं हैं, क्योंकि इनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः—

(दार्ष्टान्त)—उपरोक्त कहे गये समस्त दृष्टान्त कार्य-सिद्धार्थं ठीक ऐसे ही हैं जैसे कोई पूरबमें गई हुई वस्तु की पश्चिममें तलाश करे, तो बतलाइये कि वह उसे कैसे प्राप्त कर सकता है।

(यहाँ पूर्व दिशारूपी सर्वोपरि प्रभु की सन्मुखता और पश्चिम दिशारूपी प्रभुकी विमुखताका आशय है)।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि सर्वोपरि परात्पर श्रीप्रभुकी उपासनाके बिना अन्यदेव की उपासना करना ठीक उपरोक्त कथनानुसार दृष्टान्तों की तरह हैं कि जिनसे यथार्थसुख, शान्ति व स्वरूप प्राप्त करना असम्भव है।

कहनेका तात्पर्य यह है कि अन्य उपासना करनेमें अपूर्णता बनी ही रहती है। क्योंकि जब उनका इष्ट ही परात्पर नहीं तब पूर्णता कैसी ?

सेवहिं डाल अरंड की आम कहाँ ते होय।

टिप्पणी—भुस ऊपरको लीपनो—बहुधा देखा जाता है कि भुसभुसी (जो जगह बहुत दिन न लीपनेसे उधड़-उधड़ जाती हैं और धूल-सी हो जाती है) भूमि पर लीपनेसे वह ठीक तरहसे नहीं लिपती, उस पर लिपाई ठहरती ही नहीं और यदि जैसे-तैसे लिप ही गई तो पैर धरते ही उधड़कर पैरोंमें लग जाती है। कहनेका मतलब यह है कि यह (लिपाई) देखनेमात्र की

है इससे कोई कार्य नहीं चल सकता। दूसरे उसमें न किसी प्रकारकी अधिकता व शोभा ही आती है।

यह कहावत मध्य भारत की बोलचाल की भाषा में किसी कार्यमें व्यर्थ-परिश्रमके लिए हो उपयोग की जाती है कि क्यों यह काम करते हो, इससे क्या लाभ ? जैसे 'भुस ऊपर लीपनो न चीकनो न चांदनो' इत्यादि—

टिप्पणी—बालू की भीत—प्राय: देखा जाता है कि मार्गोंमें छोटे-छोटे बच्चे खेलनेके लिए बालू की छोटी-छोटी भीतें (दीवालें, भदूना) बनाते हैं। पर ये दीवालें क्या किसी काम थोड़े आती हैं, केवल देखनेमात्र की हैं। जिन्हें वह बच्चे स्वयं खेलते-खेलते ही नष्ट कर डालते हैं। अर्थात् ये दीवालें सिर्फ बच्चोंके मनोविनोदार्थ ही हैं उनसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। अथवा—

जल और बालू मिलाकर यदि कोई दीवाल बनावे तो वह बन तो जायेगी, पर शीघ्र ही नष्ट हो जायेगी। क्योंकि जल सूख जाने पर वह ठीक तरहसे खड़ी नहीं रह सकती और न कोई काम ही दे सकती है। अर्थात् व्यर्थ ही है। उसका बनना न बनना बराबर ही है।

टिप्पणी—भूत की मनो मिठाई—लोग जंत्र-मंत्र द्वारा भूत को सिद्ध कर लेते हैं और उससे मनमानी खाने-पीने की चीजें आवश्यकतानुसार मांगते हैं वो फौरन उन चीजोंको लाकर उनके हाथोंमें दे देता है पर जो उस भूतको सिद्ध कर लेते हैं वह उससे मँगाई हुई चीजोंको जरा भी अपने कार्यमें नहीं ला सकते और जो उन वस्तुओंको खाते हैं उनको भी उस चीजोंसे तृप्ति नहीं हो सकती। वह तो देखनेमात्र की हैं। वह भूत थोड़ी

देरके लिए उन चीजोंको सामने ला देता है और फिर फौरन जहाँ की तहाँ पहुँचा देता है। अतः इस भूत वाली मिठाईसे न खाने वालेका पेट भरता है और न खिलाने वालेको ही उससे कुछ आनन्द प्राप्त होता है। क्योंकि वह उसमेंसे जरा भी नहीं ग्रहण कर सकता है इससे इसका होना न होना बराबर ही है। हाँ ये बात अवश्य है कि थोड़ीके लिए उसकी सिद्धताका प्रभाव समाज पर पड़ जाता है। पर इससे क्या लाभ ? जब तक लोगों को ज्ञात नहीं होता तब तक तो वह इसे सिद्धाई समझते हैं और ज्योंही वह जान जाते हैं त्योंही वह उसे तुच्छ समझने लगते हैं। जैसे—

'उघरे अन्त न होय निबाहू।' इत्यादि—

टिप्पणी—स्वप्नमें नवनिधि पाई–सपनेमें समस्त ९ प्रकार की सम्पत्तियां भी यदि कोई प्राप्त करले तो भी वह कौन काम की हैं, क्योंकि जागते ही वह नष्ट हो जायेगी। उनसे न कोई कार्य चल सकता है और न कोई प्रयोजन सिद्ध हो सकता है वह तो थोड़ी देरके लिए देखने मात्र की हैं।

टिप्पणी—बाजीगरको बाग–देखा जाता है कि गली-गली तमाशा करने वाले 'मदारी लोग' (जिसे बाजीगर भी कहते हैं) अपनी कौतुकपूर्ण कलाओंको प्रदर्शित करते हुए थोड़ी ही देरमें २, ४, नये-नये पौधोंका अति छोटा-सा बगीचा लगा देते हैं (जहाँ पहले कुछभी न था उसी मिट्टीमें अपनी बाजीगरी द्वारा छोटा-सा पौधा खड़ा कर फलता-फूलता भी दिखा देते हैं) तो क्या इससे कोई प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? कदापि नहीं ! यह तो थोड़ी देरके लिए देखने मात्रका ही खेल है थोड़ी देरके लिए मनोविनोदार्थं ही समझ लीजिये अस्तु—

टिप्पणी—अजस्थन ज्यों कंठ—किसी-किसी बकरे बकरियों के गलोंमें स्थनाकार लम्बा-लम्बा मांसका टुकड़ा लटकता हुआ होता है उसे ही 'अज-कंठस्थन' कहते हैं। यह तो केवल देखने मात्रका है इसमेंसे दूध नहीं निकल सकता है। अतः दूध प्राप्त करनेके लिए इसका होना न होना बराबर ही है।

काजर सब कोइ देत है चितवनि मांझ विशेषि।
चितवनि मांझ विशेषि प्रीति सो प्रभु को देखे।
श्याम गौर जो रूप हृदय अंतर अवरेखै।
रसन रटै हरि नाम असत आलाप न करई।
देखि पराई द्रव्य चाह पावक नहिं जरई।
भगवन्त चरण व्रत नेह नित 'अग्र' सोहागिल पेखि।
काजर सब कोई देत है चितवनि मांझ विशेषि ।।२४।।

शब्दार्थ—काजर=कज्जल, अंजन, सुरमा, आंखमें लगाने की एक वस्तु, शुद्ध शब्द काजल। विशेषि=भेद, मुख्यगुण, विशेषता, भिन्नता, इत्यादि। अवरेखै=लिख ले, ध्यानमें जमा ले। आलाप=बातचीत, संभाषण। सोहागिल=सुहागिन, सौभाग्यवती, सधवा स्त्री।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे लगभग सभी सौभाग्यवती अपनी-अपनी आंखोंमें काजल लगाती हैं, पर किसी-किसीके वह विशेष-शोभा देता है। वैसे तो प्रत्येक की आंखोंमें साधारणतया वह अच्छा लगता ही है परन्तु किसी-किसीकी प्रेममयी चितवनिमें विशेषकर कुछ विशेषता आ जाती है। (क्योंकि चितवनि तो हर एक की पृथक्-पृथक् हैं दूसरे

नेत्रोंमें भी बड़े-छोटेके कारण कुछ विशेषता आ जाती है) जिसके सहयोगसे वह अति प्रेममयी चितवनि प्राण-प्यारेका चित्त चुरा लेती है। अर्थात् प्राण-प्रिय पति जिसके वश हो उससे प्यार करता है। इत्यादि वैसे ही—

(दार्ष्टान्त)—लगभग सभी भक्त भगवत्-भक्ति करते हैं, परन्तु किसी-किसी भक्तकी भक्ति कुछ विशेष-शोभाको प्राप्त होती है। क्योंकि उसके हार्दिक प्रेमसे उसकी भक्ति अत्यन्त मनोहर हो जाती है जिससे श्रीभगवान प्रसन्न होकर उससे अधिक प्रेम करने लगते हैं (आकर्षित हो जाते हैं)।

क्योंकि जो भक्त श्रीरामजी व श्रीविदेहराजनन्दिनीजी अर्थात् दोउ प्राणप्यारेके श्याम-गौर स्वरूपोंको हृदयमें बसाये हुए रहते हैं, साथ-साथ ही उनका इस तरह ध्यान करते हुए जोभसे मुखमें श्रीयुगलनाम लेते रहते हैं। और असत्य-भाषण न करते हुए दूसरेके द्रव्यको देखकर चाहरूपी अग्निमें नहीं जलते सदैव अपने भगवानके ही चरण-कमलोंमें अपना मन लगाये हुए उपरोक्त व्रत बड़ी श्रद्धा तथा दृढ़तासे सदैव निर्वाह करते रहते हैं वही सच्चे-भक्त हैं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जो सुहागिन (भक्त) अपने पतिको (भगवानको) अपने इस प्रकार हार्दिक प्रेमसे (भक्तिरूपी काजर की अति मनोहर चितवनिसे) प्रीति करती है (देखती है) वही अपने पतिको प्यारी होती है (उसीसे भगवान प्रसन्न हो तथा आकर्षित हो दर्शन देते हैं)। और वही आत्मा सौभाग्यवती पतिव्रता इत्यादि गुणयुक्त कही जा सकती है अर्थात् कहलाती है।

जो इस उपरोक्त कहे अनुसार अनन्यभावसे अपने परम पतिरूपी श्रीपरमात्माको अवलोकन कर, पहिचान कर अपनी निराली चितवनिमें फँसा लेती है ॥२४॥

टिप्पणी—श्याम गौर जो रूप—श्रीसीतारामजी की श्याम-गौर मूर्तिको जो सदैवके लिए अपने हृदय-पटल पर अङ्कित कर उनके ध्यानमें ही अहर्निश मग्न रहें। अथवा—

उनकी मनोहारिणी मंदस्मित मधुर मूर्तिका जो मनसे मनन, चित्तसे चिन्तन, बुद्धिसे निश्चय और अहङ्कारसे तत्पर हो, अन्तःकरण ही उनके नाम-रूप-लीला-धाममें लगाकर अपने अनन्यभावसे यथार्थ सुखानुभव करता हुआ अपने प्रेमका (भक्तिका) परिचय देता है वह सराहनीय है।

सुख सों सोव कुम्हार नित चोर न मटिया लेय।
चोर न मटिया लेय भजनबल होय हाथ मन।
ओठों लगे न तासु रहे सत्संग सदा जन।
इन्द्रिय राम न होय सकल मिथ्या करि जाने।
हरि लीला रस मत्त मुदित निर्भय गुण गाने।
'अग्र' बसत जे राम पद काल चिनौती देय।
सुख सों सोव कुम्हार नित चोर न मटिया लेय ॥२५॥

शब्दार्थ—मटिया=मिट्टी। ओठों=चोट, ठोकर। इन्द्रिय=इन्द्री (विषय), +ज्ञानेन्द्रिय, + कर्मेन्द्रिय, ❋अन्तरिन्द्रिय। राम=आराम, विश्राम, यथार्थसुख, ईश्वर आदि। रस=

❋ नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, त्वक् और मन ये ६ ज्ञान साधन इन्द्रियाँ हैं।

स्वाद, षट्रस (भोजनके रस), शृंगार, हास्य आदि नवरस, उपासनामय पंचरस। चिनौती=धूल देना, चुन्नू देना।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे कुम्हारकी मिट्टी कोई नहीं चुराता है इससे कुम्हार सदैव सुखसे सोता है क्योंकि मिट्टीको लेकर कोई क्या करेगा ?

(**दार्ष्टान्त**)—वैसे ही जीवरूपी कुम्हार की शरीररूपी मिट्टीको काम-क्रोधादिक चोर नहीं चुराते वह तो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार (अन्तःकरण) रूपी संपत्तिके चोर हैं। अतः वह मिट्टीको लेकर क्या करेंगे।

इससे जो जीव भजन करके अपने मनको आधीन कर लेते हैं अर्थात् अपने अन्तःकरण चतुष्टयको भजन-बलसे सुरक्षित कर लेते हैं (क्योंकि भजन करनेसे मनादिक स्थिर हो जाते हैं)उनको उपरोक्त चोरोंका भय नहीं रहता है। और सदैव-भजन करते रहनेसे अथवा सत्संगमें लगे रहनेसे उन पर कोई सांसारिक गजबी (आकस्मिक, दैविक) चोट-चपेट नहीं पड़ती है। क्योंकि वह सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान की शरणमें अपने को समझ रहे हैं।

वाक्, पाणि, गुदा, उपस्थ, और मुख ये ५ कर्मेन्द्रिय हैं।

मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार अन्तरिन्द्रिय हैं। और यही चारों मिलकर जीव कहलाता है। कोई इसी (जीव) को ईश्वर (राम) मानते हैं। पर श्रीस्वामीजी कहते हैं कि यह ईश्वर नहीं हो सकता क्योंकि—

माया बस परिछिन्न जड़, जीव कि ईश समान।

इत्यादि—

(श्रीगोस्वामीजी)

सन्मुख होय जीव मोहि जबहीं। जन्मकोटि अघ नासौं तबहीं ॥
(श्रीगोस्वामीजी)

इससे जो जीव इन्द्रियोंके सुखोंको सुख(आराम) न समझकर अर्थात् उनमें लिप्त न होकर सब संसारका पसारा ब्रह्मादिकों तक भ्रमवत् मिथ्या समझकर अपने इष्टदेव श्रीभगवानके नाम, रूप, लीला और धाममें अति आनन्दपूर्वक मतवाले हो अपने मनको लगाकर निर्भय संकोच, लज्जारहित होकर उनके गुणानुवादोंको गा-गाकर आनन्द-रसका आस्वादन करते हैं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि वे ही जीव जो उपरोक्तानुसार अपने मनको लुब्ध मधुप इव अविछिन्न श्रीभगवानके चरण-कमलोंमें लपटाये रहते हुए कालको कुछ न समझकर उसे चिनौती (चुन्नी, धूल, तलाक) देते हैं और कुम्हार की तरह समस्त सांसारिक संपत्तिको मिट्‌टीवत् समझते हुए सुखसे अपने जीवनको सफल करते हुए, आनन्दमय नींदमें मस्त रहते हैं। जिनका भजनरूपी प्राणप्रिय संपत्तिको अति सुदृढ़तासे सुरक्षित देखकर कामादिक चोर लज्जित हो (अनखाकर) चले जाते हैं ॥२५॥

टिप्पणी—भजन बल होय हाथ मन—भजन द्वारा ही मन स्थिर होता है। क्योंकि जब इस पर भजनकी रगड़ पड़ती है, तब कहीं इसकी बुद्धि ठिकाने लगती है, नहीं तो इसकी स्वाभाविक चंचलता नहीं जाती हैं। यह अपनी-अपनी ही प्रत्येक वस्तुओंमें टांय-टांय लगाये, सदा भ्रमोंमें ही भ्रमता हुआ पचा करता है। और जीवको धोखेमें डाल देता है। इससे जीवको चाहिए कि

इसे किसी प्रकारके भजन की काष्ठासे इसको व्यस्त करदे। क्योंकि इसे बिना तप-ताड़नके वश करना साधारण बात नहीं। अतः इसे नाना-प्रकारके सुकर्ममयी विषयोंमें बांध, जीवको इससे सदैव सावधान रहते हुए इसे अपने (उपरोक्तानुसार) हाथ (वश)में करना चाहिए।

सबसे सरल उपाय इसे वश करनेका भजन ही है। क्योंकि—
भजन करत बिन जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥

फिर मनकी तो बात ही क्या है।

भजन क्या है? (देखिये कु० छ० नं० १३)

टिप्पणी—ओठों लगे न तासु रहे सत्संग सदा जन—जो जन सत्संगमें रहते हैं उन पर कोई भी गजबी (दैविक) चोटोंका प्रभाव नहीं पड़ता है। अथवा ओठों—नकबन लगे, साधन सम्पत्ति चोरी न जाय।

सत्संग क्या है? इसमें रमते रहनेसे क्यों और कैसे सांसारिक चोटें नहीं व्यापा करती हैं? (देखिये कु० १३)

टिप्पणी—इन्द्रिय राम न होय—जो जीव इन्द्रियोंके क्षणभंगुर अति दारुण दुःखमय सुखोंको सुख मानकर जो नाना-प्रकार पचता हुआ उनके लिए अविकल परिश्रम करता है। पर अन्तमें वह उनको प्राप्त कर लेने पर, अन्तमें वह उनका भोग कर लेने पर भी सुखी नहीं देखा जाता। इससे यदि इन्द्रिय-सुख ही विश्रामप्रद होता, तो फिर क्यों वह (जीव) परमसुखी न देखा जाता? अतः जीवको इन्द्रियोंके सुख परमशान्ति व विश्राम देने वाले नहीं, बल्कि यह सुख उस शान्ति व सुखके महाबाधक हैं।

जैसे कि श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ज्ञान सुहाई । विषय भोग पर प्रीति सदाई ॥
जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास बिरागा ॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि जब तक जीव इन्द्रियोंके वशीभूत रहता है तब तक वह यथार्थसुख, शान्ति और विश्राम नहीं पा सकता है अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति नहीं कर सकता है। उसे ईश्वर-प्राप्तिके लिए (आत्मानन्द) जितेन्द्रिय हो इनके (इन्द्रियों के) क्षणभंगुर सुखोंका यथार्थरूप समझकर इन्हें दुःखरूप भ्रमवत् मिथ्या मानना पड़ेगा । मध्यमें टीकाकारका मङ्गलाचरण--

❀ छन्द ❀

जय अवतारी अवतारमणी जग स्वामी।
जय कृपा वारिनिधि राम सु अन्तरजामी।
जय शक्ति शिरोमणि शक्ति सिया पर शक्ती।
जय जग अभिराम स्वरूप भागवत भक्ती।
जय हनुमदादि रघुनाथजन सुरति देन भव भय हरन।
त्राहि त्राहि जय जय जयति राजकिशोरीवर शरन॥

कूकर चौकि चढ़ाइये चाकी चाटन जाय।
चाकी चाटन जाय आदि अभ्यास न छाड़ै।
वर्जित वेद पुराण विषय पकड़ै हठि हाड़ै।
बच्छ पयोधर पान करन तेहि कौन सिखायो।
अनुभव जन्म अनेक अविद्या ही चलि आयो।
'अग्रदास' को बस कहा परे कूप महँ धाय।
कूकर चौकि चढ़ाइये चाकी चाटन जाय॥२६॥

शब्दार्थ—कूकर=कुत्ता (आवारा, मनमुखी फिरने वाला, कुत्ता) चौकि=चौकी, सारौट, चौकोनी बनी हुई काष्ठकी वस्तु। आटा, गुलाब आदिसे बेलबूटे बनानेको भी चौक कहते हैं। चौकि चढ़ाइये-प्रतिष्ठा दीजिये सब प्रकारसे पूर्ण करके प्राणोंसे प्यारा रखिये। चाट=आदत, टेव, चसका। आदि=पहलेवाला। वर्जित=मना किया हुआ, रोका हुआ। वश=उपाय, चारा।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जिस प्रकार कुत्तेको कितने ही भले प्रकारसे—भोजनादिसे पूर्ण प्रतिष्ठाके साथ रखिये किन्तु वह अवकाश प्राप्त होते ही स्वतः चक्की चाटनेके लिए जायेगा ही जायेगा। उसकी ये चक्की चाटने वाली पहले की स्वाभाविक आदत नहीं छूट सकती है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही ये जीवरूपी कुत्ता अपने स्वाभाविक चसके से वश हो विषयरूपी चक्कीका चाटना नहीं छोड़ता है, क्योंकि जन्म-जन्मान्तरोंसे इसे विषय-ग्रहण की आदत पड़ रही है। और इस तरहमें ये जीव विषयी हो रहा है। यही कारण है कि वेद-पुराणादि सद्ग्रन्थोंमें मना करते हुए भी ये विषयोंको हठपूर्वक ग्रहण करता है और अपनेको इसमें कुत्ते की तरह सुखी समझता है।

यदि ये कहा जाय कि विषयने जीवको अपने आधीन कर लिया है, सो भी संभव नहीं। भला जड़में चेतनको फँसाने की शक्ति कहाँ?

अतः जिस तरह बच्चेको उत्पन्न होते ही थनोंमें लगाकर दूध पीना कोई नहीं सिखाता, वह स्वतः स्वभावसे प्रेरित होकर

दूध पीने लगता है। ठीक वैसे ही अनेकों जन्मसे अविद्यामें पड़ा, उसका अनुभव करता हुआ—जीव, विषय-वासनाओंके अनुभव को प्रकृतिमयी-संस्कारोंके साथ-साथ जन्मसे ही लाता है और इस तरह स्वतः ही विषयाधीन होता है। ये वेद पुराणादि सन्तमतकी अवहेलना करता हुआ, जान-बूझकर विषय-बन्धनमें पड़ जाता है।

श्रीअग्रस्वामीजी, जीवकी इस शोचनीय दशा पर शोक, आश्चर्य एवं अपनी विवशता प्रकट करते हुए कहते हैं कि इतने उपदेशों तथा चेतावनियोंको सुन-समझकर भी यदि कोई जान-बूझकर, यों पकड़ते हुए भी दौड़कर कुयेंमें हठात् गिरे अर्थात् समझ-बूझकर विषयोंमें फँसे, तो उस पर किसीका क्या चारा है ? लाचारी है।

जीवको ऐसे ही कुत्तेकी तरह विषयका चसका पड़ गया है, जिसके कारण वह अनेकों प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित होता है।

टिप्पणी—आदि अभ्यास न छाँड़ै—पहले की आदत नहीं छोड़ता है।

कुत्तेका दृष्टान्त देकर स्वामीजी कुत्ता व जीव, दोनोंकी आदतों की साम्यता प्रदर्शित करते हुए, उनके प्रभावादिका भी दिग्दर्शन कराते हैं। वह यह कि जैसे आवारा कुत्तेकी घर-घर चक्की चाटने की टेवको छुड़ाना, सरल नहीं, क्योंकि वह कई जगह डंडे भी खाता है और न मालूम कितनी जगह क्या-क्या दुर्दशाओंका उसे सामना करना पड़ता है किन्तु उसे इतनेसे सीख नहीं लगती। वह फिर उसी तरह घरोंमें घुस-घुसकर बार-बार पिटता हुआ भूल-भूलकर उसी मार्गका अनुसरण करता है, किन्तु अपनी आदत से बाज नहीं आता।

जिस प्रकार इस आदि-अभ्यासके कारण वह नाना-प्रकारसे दण्डित होता है। वैसे ही यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करता हुआ विषयका अभ्यासी हो जाता है, और उस विषयके लिए नाना-प्रकार की यातनाओंका सामना करता हुआ भी स्वभावतः उसी विषय की ओर अग्रसर होता है। ये आदि अभ्यास ही इसका मुख्य कारण है कि जिससे तीनों प्रकारके कर्मों की सृष्टि होती है और यही कर्म, विषयजन्य होनेके कारण जीवको विषय की ओर ही आकर्षित करते हुए दुःखका कारण होते हैं।

इस प्रकार स्वामीजी संचित एवं क्रियमाणादि कर्मोंका बोध करवाते हुए जीवको कुत्तेके दृष्टान्तसे समझाते हैं कि हे जीव ! तुम क्यों अपने ही अभ्यासके कारण अपनेको विषयाधीन बना रहे हो। तुमको इस तरह कष्ट भी हो रहा है तिस पर भी तुम फिर बार-बार उसीका अनुसंधान करते हो। तुमको मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है। ये तुम्हारे उक्त आदि अभ्यासको छुड़ा सकता है। वेद पुराणोंके उपदेशों की अवहेलना ही तुम्हारे बन्धनका कारण है। इससे यदि तुम इस बन्धनसे छुटकारा चाहते हो तो उक्तग्रन्थोंके उपदेशोंको मानकर ही विषय-बन्धन से अपनेको मुक्तकर सकते हो।

देखो ! परमात्माने तुमको मनुष्ययोनि देकर 'कूकर चौकि चढ़ाइये' वाली कहावत चरितार्थ की है, साथ ही यह भी अवसर दिया है कि तुम अपनी इस आदत (आदि-अभ्यास) को त्यागकर निजस्वरूप की प्राप्तिके मार्गका अनुसरण करो। क्योंकि जीवके इतने कर्म कहाँ कि वह इस अवसरको प्राप्तकर सके। देखिये—

कबहुंक करि करुणा नर देही। देत ईश बिन हेतु सनेही ।।
(गोस्वामीजी)

इतने पर भी यदि तुमने अपनी विषयावलम्बी बानको न छोड़ा तो तुमको उसी कुत्ते की तरह धिक्कार है, जो मालिकके प्राणोंके समान पालने पर भी अवकाश (मौका) पाकर, आदि अभ्यासके कारण, चक्की चाटनेको जाता है।

टिप्पणी—विषय पकड़े हठि हाड़ै—मूर्खतावश अथवा हठपूर्बक, हड्डीरूपी विषयको पकड़े है।

स्वामीजीने कुत्तेका दार्ष्टान्त देकर उसकी एक आदत चक्की चाटने वालीसे जीवको बार-बार विषयकी ओर आकर्षित होनेका बोध तो करवा दिया किन्तु विषयमें वह सुखका अनुभव करता हुआ अपनेको उसका भोक्ता समझकर आनन्दित होता है इस बातको भी व्यक्त कर देना अभीष्ट समझकर आप आगे कहते हैं, कि साथ ही जिस तरह सूखी हड्डी चबाकर कुत्ता स्वयं अपने ही रुधिरको पीकर आनन्दित होता है और उस हड्डीका भोक्ता अपनेको समझता है।

ठीक इसी तरह जीव भी अपने खूनको नष्ट करता हुआ विषयानन्दित होता है। और इस तरह अपनेको भोक्ता समझता है। जो बिल्कुल गलत है। जिसका प्रत्यक्ष सत्यरूप बतलाकर वेद-पुराणादि मना करते हुए आदेश करते हैं कि हे जीव! तू अपने जीवनके मोल पर ही इन विषयोंका सेवन कर रहा है। तू अपनेको इनका भोक्ता समझ रहा है किन्तु ये विषय ही तेरे जीवनको नष्ट करके तेरे ही दु:खोंका कारण होते हैं।

अत: इस बातको अच्छी तरह उक्त दृष्टान्तसे समझकर

अपने यथोचित मार्गका अनुसरण कर। जो तुझे लौकिक व पारलौकिक आनन्द दे सकता है। देखिये—

शोचनीय सबही विधि सोई। जो न छाँड़ि छल हरिजन होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी। राम विमुख सुत ते हित हानी॥
(रामचरितमानस)

नर देह कहा ? करि देख विचार विगार गवारु न काजहि रे।
जनि डोलहि लोलुप कूकर ज्यों 'तुलसी' भज कौशलराजहि रे।
(कवितावली)

जो पै रहनि राम सों नाहीं।
तौ नर, खर, सूकर, कूकर, ज्यों जाय जियत जग माहीं।
(विनयपत्रिका)

टिप्पणी—अनुभव जन्म अनेक अविद्या ही चलि आयो— यह जीव जन्म-जन्मान्तरसे अविद्यादेवीके संसर्ग द्वारा ही अभी तक आवागमनके चक्करमें बँधा हुआ चला आ रहा है। अतः इसका ये अविद्यानुभव इतना बढ़ा-चढ़ा होता है कि वह स्वभावतः अविद्या की ओर ही आकर्षित होता है।

इसके लिए स्वामीजी अपनी विवशता दिखलाते हुए कहते हैं कि जीव केवल वेद-पुराणादि सन्त गुरुके उपदेशानुसार ही अनुसरण करके अविद्याको समझ, उससे छुटकारा पा सकता है अन्यथा नहीं, क्योंकि ये अविद्यादेवी ऐसी ही है। देखिये—

शिव विरंचि कहँ मोहई, को है वपुरा आन।
अस जिय जानि भजहिं मुनि, मायापति भगवान॥
(गोस्वामीजी)

अतः अग्रस्वामीजी भी वही बात कहते हैं कि जीवने जिसका अनुभव किया उसका उसे फल प्राप्त हुआ। यदि वह विद्याका अनुभव करता तो उसे भवकूपमें क्यों गिरना पड़ता। अतः जीवको चाहिए कि वह सत्संग करे और भव-बंधनसे छूट जाय क्योंकि—

सत्संगति संसृति कर अन्ता। (श्रीगोस्वामीजी)

कुबला पानी कृपण धन गल बन्धे निकलाय।
गल बन्धे निकलाय चोर जहँ हरो गड़ो वसु।
बन्धि परे गज वाजि रोग ते मरे सबै पशु।
दाह अग्नि यम दंड भूप गद खायो खोटो।
हरिपद अर्पित विमुख वनिज महँ पारो टोटो।
'अग्र' कहे फूटी सहे आँजी सही न जाय।
कुबला पानी कृपण धन गल बन्धे निकलाय ॥२७॥

शब्दार्थ—कुबला पानी=कड़वी दवाइयोंसे उबला हुआ जल, काढा। गल बन्धे=गलेको बाँधने पर, प्राणकी नौबत आने पर, बड़े कष्टके साथ। वसु=द्रव्य। गद=व्याधि। टोटा=घाटा। खोटा=बदमाश, धूर्त लोग। वनिज=वणिज्य, व्यापार।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि 'जैसे काढ़ा बड़ी कठिनतासे गलेसे नीचे निकाला जाता है। अर्थात् बश-भर नहीं पिया जाता है। साथही जैसे लोभीका धन प्राणकी नौबत आ जाने पर भी अति कठिनतासे विवश हो जाने पर ही निकलता है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही जीवको प्रसन्नता पूर्वक परमार्थमें ईश्वरके लिए धन खर्च नहीं किया जाता है, चाहे उस धनका अन्य प्रकारसे भले ही नाश हो जाय—चोरीसे गड़ा हुआ चोरों द्वारा उखाड़ लिया जाय, डाकुओं द्वारा गला बांधकर जबरदस्ती से छीन लिया जाय, अग्नि द्वारा जल जाय, रोगसे पीड़ित होकर हाथी, घोड़े, पशु आदि बँधे-बँधे ही मरकर नष्ट हो जावें, राजदण्डमें अपहरण कर लिया जाय व किसी प्रकारसे छल-बल द्वारा बदमाश (धूर्त)लोग खाकर नष्ट करदें—किन्तु उसे उसको धार्मिक-कार्योंमें व्यय करने की अभिरुचि उत्पन्न नहीं होती है।

इस प्रकार ये संसाररूपी बाजारका जीवरूपी व्यापारी श्रीसीतारामजीके चरण-कमलोंसे विमुख हो अपने जीवनरूपी धनका धार्मिक-कार्योंमें व्यय न करके, व्यर्थ हो जाने वाले नश्वर कार्योंमें व्यय करता है और इस तरह अपने कर्मोंके वाणिज्यमें घाटा उठाता है। क्योंकि कोई भी सुकर्म भगवत् चरण-कमलोंमें अर्पण किये बिना सफल नहीं होता है। जिसे श्रीगोस्वामीजी भी कहते हैं।

हरिहिं समर्पे बिन सत्कर्मा (श्रीरामचरितमानस)

श्रीस्वामीअग्रदासजी कहते हैं कि जीवकी यह स्वाभाविक बान पड़ गई है कि वह सदैव इस कहावत—'फूटी सहै आँजी सही न जाय'—के अनुसार कार्य किया करता है। जो उपरोक्तानुसार कृपणधन की भाँति व्यर्थ हो जाता है।

अतः जो कार्य थोड़ा-सा कष्ट उठाकर बनाया जा सकता है तो क्यों न बना लिया जावे। समय पर उसके लिए थोड़ा भी कष्ट न सहकर, सभी कार्यको ही व्यर्थ कर देना तो कोई बुद्धिमानी नहीं।

टिप्पणी—हरिपद अर्पित विमुख वनिज महँ पारो टोटो—भगवत्-विमुख कार्य होनेके कारण इस जीवन व्यापारमें घाटा हुआ।

श्रीस्वामीजीके कहनेका तात्पर्य यह है कि इस संसाररूपी बाजारमें जीवरूपी व्यापारी जीवनकी पूंजी लेकर, मोक्षानन्द प्राप्तिके अलभ्य-लाभके लिए, व्यापार करनेको आता है, किन्तु यहाँ वह अपने ध्येयको भूलकर भगवत्प्राप्ति वाले मार्गको छोड़ विमुख—मार्गका यात्री बन अनेकों संकटोंमें फँसता हुआ मायाका व्यापार करने लग जाता है। जिससे उसके व्यापारमें केवल लाभका ही घाटा नहीं होता बल्कि वह सारी-पूंजी ही खो बैठता है क्योंकि मायाका माल तो धोखे वाला केवल ऊपर ही की चमक-दमक वाला 'मुलम्मी' माल है, जो जौहरीके पास जाते ही बेकार हो जाने वाला है। अतः हे जीवो ! तुमको अपना जीवनधन बड़े विचारपूर्वक अधिकसे अधिक भगवत् सम्बन्धी धार्मिक कार्योंमें ही लगाकर, व्यय करना चाहिए जिससे उसका (जीवनका) अलभ्य लाभ प्राप्त हो। क्योंकि भगवानके चरण-कमलोंमें अर्पित किये बिना सुकर्मकी भी सफलता कहाँ ? साथ ही धनकी भी चार गतियां कही गई हैं। देखिये—

दोहा—लक्ष्मी के सुत चार हैं धर्म, अग्नि, नृप, चोर।
जेठे के अपमान ते, तीन करें भड़ फोर॥

(लोकोक्तिसे)

किसीने क्या ही ठीक कहा है कि यदि धर्ममें धन न लगाया जायेगा तो वह शेष अग्नि, राजा, चोर, द्वारा ही व्यय होकर व्यर्थ हो जायेगा। अतः क्यों न धर्मके हाथ दिया

जाय कि व्यर्थ न होकर सार्थक हो। क्योंकि धन स्थाई तो है नहीं, वह तो खर्च होगा ही। इसीको लक्ष्य करवाते हुए गोस्वामीजी कहते हैं 'सो धन धन्य प्रथम गति जाकी' अस्तु जब इस सांसारिक धन, रुपया, पैसाका ये हाल है तो फिर इस जीवन धनकी बात ही क्या कहना है। इसके लिए आप ही स्वयं विचार करें।

टिप्पणी—फूटी सहै आंजी सही न जाय—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे आंजनसे ठीक हो जाने वाली आंखको अंजन—इस कारण, न लगाया जाय कि लगता है, आंसू आते हैं या इस तरह आंखमें थोड़ी तकलीफ होती है—अन्तमें कोई इलाज न करवाये जानेसे आंख धीरे-धीरे खराब हो जाये अर्थात् फूटनेके बराबर हो जाये। तो क्या ये बुद्धिमानी कही जा सकती है? कदापि नहीं। ये तो और बड़ी मूर्खता है जैसे कोई अपने हाथसे अपने पैर काटे।

थोड़ी देरका कष्ट न सहकर जीवन-भरका कष्ट मोल लेना महान् त्रुटि है।

स्वामीजी इसी भावको स्पष्ट करते हुए जीवको अपने इस मनुष्य जीवनको थोड़ा कष्ट सहकर सफल बनानेके लिए उपदेश करते हैं। वह कहते हैं कि हे जीव! देखो, तुमको अभी अवसर है कि तुम भगवत्-भक्ति करके अपने धार्मिक एवं पारमार्थिक आचरणों द्वारा इस मनुष्य-जीवनको, सफल बना सकते हो निःसन्देह इसमें कुछ कष्ट उठाना पड़ेगा क्योंकि शारीरिक दशों-इन्द्रियाँ स्वभावतः अपने-अपने विषय की ओर लालायित होती हैं और ये मनको अपने-अपने रङ्गमें फँसाकर ही अपना

मतलब सिद्ध करती हैं अतः बुद्धि द्वारा मनको इनके रङ्गमें आने से रोका जाता है, और उसे भक्तिमें लगाना पड़ता है। इस गृहयुद्धमें जीव, थोड़े कष्टका अनुभव करता है किन्तु जब मन इस रङ्गमें रङ्ग जाता है तो फिर इसीमें चैन करता है। इसके लगाने की अवस्थामें अवश्य कष्ट उठाना पड़ता है।

किन्तु भविष्य तो उज्वल है। इस थोड़ा कष्टका इसके सामने क्या मूल्य हो सकता है। इससे इस कष्टका मुँह न देखकर भविष्यके आनन्द एवं सुखका विचार करके अविद्याके चक्करमें न पड़कर भगवत्-भक्तिका आश्रय लेकर जीवनके ध्येयको प्राप्त करो। क्योंकि—

भक्ति करत बिन यतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥

(गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी)

नहीं तो उक्त कहावत के अनुसार—'फूटी सहै आँजी सही न जाय'—ही भुगतना पड़ेगा।

जेहि घर जितो बधावनो तेहि घर तितनो सोग।
तेहि घर तितनो सोग जन्म में नच अरु गावे।
बहिन भानजा विप्र भाट बंदी पहिरावे।
लगे ताहि जब रोग विषम भेषज को धावे।
ग्रह पूजा को करे भूत भोपानि बुलावे।
'अग्र' कहे सिर कूट कर रोवे बहुत वियोग।
जेहि घर जितो बधावनो तेहि घर तितनो सोग॥२८॥

शब्दार्थ—बधावनो=मङ्गलोतसव, आनन्द=हर्ष। सोग=दुःख,शोक। विषम=कठिन। भेषज औषधि। भोपानि=यन्त्र मन्त्र जानने वाले, ओझा, औलिया।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जिस घरमें जितना आनन्द, मंगलोत्सव दिखाई पड़ता है। उस घरमें उतना ही दुःख भी देखा जाता है। ये संसारका नियम ही है। यहाँ कोई भी दुःख रहित सुखको नहीं प्राप्त होता है क्योंकि जिस वस्तुकी प्राप्तिमें वह, जिस परिणामका सुखानुभव करेगा, उसके वियोगसे भी उसको उससे अधिक नहीं तो उतने मायाका दुःख तो अवश्य ही होगा। साथही उतने ही दर्जेकी उसे चिन्ता होगी जो विशेषतया दुःखका कारण होती है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही जितना आनन्द जीवको बच्चेके जन्ममें होता है कि मारे-आनन्दके वह कई तरहकी खुशियां मनाता है कि जिससे वह अपने कुटुम्ब-कबीलाको,नाना-प्रकारके उत्साहपूर्ण नाच, गाने एवं बढ़िया वस्त्र भोजनादि करवाकर प्रसन्न करता हुआ स्वयं प्रसन्न होता है। अथवा अपनी बहिन, भानजा आदि को अच्छे भोजन, वस्त्र धनादि देकर एवं ब्राह्मण, भाट, बंदीजनादिको अनेकों तरहकी वस्तुयें तथा यथायोग्य पारितोषिक (इनाम) आदि देकर प्रसन्न करता है और इस तरह अपना आनन्द प्रकट करता हुआ आनन्दित होता है।

किन्तु जब उसी जीवको कोई असाध्य रोग हो जाता है तो वह उक्त प्रसन्नतासे कहीं अधिक चिन्तामें पड़कर किसी रामबाण औषधि प्राप्त करने की खोजमें भटकता हुआ, अनेकों कष्ट सहकर शक्ति-भर अपने उपायों द्वारा उसको मृत्युसे बचानेका प्रयत्न करता है—कहीं नवग्रहोंका पूजन करता करवाता है, कहीं भूतों-प्रेतों आदिकी आराधना करता करवाता है, कहीं वैद्य डाक्टरोंका आश्रय लेता है, कहीं यन्त्र-मंत्र-तन्त्रादि

जानने वाले ओझा, औलियोंके चक्करमें पड़ उनकी सेवा सुश्रूषा करता है—अन्तमें जब वह जीव मर जाता है तो फिर उतना ही दुःखित होता हुआ अपने शरीरको कष्ट देने लगता है। कहीं सिर पटकता है, कही छाती कूटता है व गिर-गिर पड़ता है और इस तरह योगमें (जन्ममें) जिस तरह आनन्दित होता था उसी तरह वियोगमें दुःखित होता है और बार-बार पछता-पछताकर रह जाता है।

इस समय (मृत्युमें) वह दुःखका उस योगके (जन्मके) सुखसे कहीं अधिक अनुभव करता है।

अतः श्रीअग्रदासजी महाराज कहते हैं कि इस संसारमें जितना सुख है उतना दुःख भी है। दोनोंका जोड़ा है। एक के अनन्तर दूसरेका समय आता है। इसलिए बुद्धिमानको उचित है कि इस दुःख-सुखके सच्चे स्वरूपको अच्छी तरह पहिचानकर समयानुसार धैर्य धारण कर स्थिरतापूर्वक ईश्वराधन करे। जीने, मरने, धनी-निर्धन होने तथा और भी अनेकों बातोंके दुःख-सुख समझकर ईर्षाद्वेषादिके चक्करमें पड़ इस मनुष्य-जीवन के सुअवसरको भगवानकी कल्याणकारिणी भक्तिको छोड़ व्यर्थ न खो देना चाहिए। देखिये—

सुख हर्षहिं जड़ दुख बिलखाहीं।
दोऊ सम धीर धरहिं मन माहीं॥ (श्रीगोस्वामीजी)

(काहै) ऊपर तत्तो पानी (थोथी) चिड़ी कपूरी नाम।
(थोथी) चिड़ी कपूरी नाम कहां तन धन को गारो।
विनशत लगे न बार छोड़ि सब चले पसारो।

केतिक सपनो रैन जीव जल बुद-बुद जैसो।
दुग्ध घरी पेटक जगत आंखि मूंद ते ऐसो।
'अग्र' अल्प आयूष को ठाठ बड़े बड़ ठाम।
(काहै)ऊपर तत्तो पानी(थोथी)चिड़ी कपूरी नाम।।२६।।

शब्दार्थ—तत्तो=गरम, ऊष्ण। थोथी=खोखली, पोली, रिक्त। केतिक=कितनी। गारो=व्यय किया, लगाया, घिसा। विनशत=नष्ट होते। पसारो=फैलाव, जग-प्रपंच। बुद-बुद=बबूला, पानीका बबूला। दुग्ध=दूध, यहाँ संख्या बोधक 'दो' के लिए प्रयोग किया गया है। घरी=समय बोधक २।। घण्टे की १ घड़ी होती है,वह पर्त। पेटक=पेट वाला। ठाठ=रोब, शान तैयारी, चमत्कार, वेष, रचनादि। मूंदे=बन्द करने।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे गर्मजल की ऊपर की ऊष्णता किसी कामकी नहीं, क्योंकि वह जरा ही देरमें नष्ट हो जाने वाली है। हवा लगते ही समाप्त हो जाती है। अथवा जैसे कपूरी नामक थोथी चिड़िया--मोटे शरीर वाली, खोखली यानी कर्त्तव्यहीन देखनेमात्र की एवं कपूरके समान वेगसे उड़ नष्ट हो जाने वाली भी किस काम की। कि नाम बड़े दर्शन थोड़े।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही तन-धन (जीवन) भी गर्मजलके ऊपर की थोड़ी देर की गर्मी की तरह नाशवान हैं एवं थोथी कपूरी चिड़िया की तरह एक जगह रखा हुआ यानी स्वार्थ साधनमात्र में ही लगाया हुआ यथार्थरूपसे कोई कामका नहीं है। देखते देखते ही उड़ जाने वाला है।

अत: जीवको यह अवश्य विचारना चाहिए कि इस

तन-धनका हम कहाँ, कैसा, व्यय कर रहे हैं। क्योंकि यदि तन धनको सदैव रहना होता तो उसके लिए ही सब स्वार्थमय साधन एकत्रित किये जा सकते थे किन्तु इसका विनाश तो निश्चय है। इसलिए इस तन-धनको ऐसा लगाना (गारना) व्यय करना यानी उपयोगमें लाना चाहिए, कि आत्माको इसके धारण करने का यथार्थलाभ प्राप्त हो। जो सिवाय ईश्वराधनाके और किसी साधन विशेषसे नहीं प्राप्त हो सकता। देखिये—

तव पद पंकज प्रीति निरन्तर।
सब साधन कर यह फल सुन्दर॥ (श्रीगोस्वामीजी)

इसी प्रकार एक जगह रखा हुआ केवल स्वार्थमें ही व्यय किया, भगवत्-विमुख धन भी व्यर्थ ही है।

राम विमुख संपत्ति प्रभुताई।
जाय रही पाई बिन पाई॥ (श्रीगोस्वामीजी)

अस्तु ऐसा विचारकर जीवको अपने तन-धन (जीवनरूपी) समस्त सम्पत्तिको भगवानकी भक्तिमें ही व्यय करना चाहिए। क्योंकि इसके नष्ट होनेमें विलम्ब नहीं लगता। न मालूम किस क्षणमें इसके नष्ट होनेका समय आ जावे और फिर उस समय लाचार होकर समस्त सहारे, शरीर, धन, कुटुम्ब, कबीला एवं ऐश्वर्यादिको छोड़कर जाना पड़े।

इसलिए हे जीव! ये जीवन, रात्रिके किंचित् स्वप्न व जलके बबूलेके समान थोड़ी ही देरमें बनने बिगड़ने वाला है। इसका सच्चारूप तो मरणान्तर ही ज्ञात होता है, कि ये दो-घड़ी का जीवन था। जिस प्रकार जागने पर ही स्वप्नका

बोध हुआ करता है ठीक उसी प्रकार जीवन भी मरनेके पूर्व चिर-स्थाई समझ पड़ता है। मृत्युके अनन्तर ही जीवनका यथार्थ रहस्य स्पष्ट होता है, क्योंकि जब हम किसीको मरा हुआ देखते हैं तब ही हम इस संसार तथा सांसारिक जीवनके रहस्यके सच्चे तात्पर्य तक पहुँचते हुए दीख पड़ते हैं।

इसी उक्त भावको बिल्कुल स्पष्ट करते हुए श्रीस्वामीजी कहते हैं कि भाइयो ! इतनी थोड़ी आयुके लिए ही तुम इतना प्रयत्न करते हो। कि बड़े-बड़े कारवार, शान-शौकत आदि अनेकों तरहके ऐश्वर्यमय चमत्कारों की सृष्टि करते हो और इसीके लिए ही तुम, न मालूम कितनी परेशानियोंका सामना करते हुए, अनेकों तरहके कष्ट उठाते हो। जो मरने पर यानी आंख बन्द होते ही व्यर्थ हो जाता है।

भाई हमें तो बड़ा-आश्चर्य होता है कि तुम इस अमूल्य जीवन-धनको इस दो घड़ी वाले नश्वर चमत्कारके लिए कैसे खर्च करते हो। इस तरहका जीवन तो जलके ऊपर की गर्मी व थोथी कपूरी चिड़िया आदिकी तरह ही है। जिसका कोई सार्थक उपयोग नहीं। अस्तु—

टिप्पणी—दुग्ध घरी पेटक जगत—दो घड़ीका संसार। कहीं 'दुग्ध घरी पटके जगत' भी पाठ है।

अतः इसका भी तात्पर्य जीवन पर ही घटित होता है। कि संसारमें जीवन, जले हुए कपड़ेकी घरीकी तरह है, जो केवल देखने मात्रकी होती है। उससे कोई लाभ तो हो नहीं सकता फिर क्या, उसका होना न होना ❀ बराबर ही है। कहनेका

❀उबल पाने, सिद्ध हो पाने

मतलब यह है कि ऐसा जीवन तो जीते हुए भी मरे के समान है। (अथवा)—दुग्ध घरी पेटक जगत—वह जीवन दो घड़ी रखे हुए कच्चे दूधके समान है, जो रखा-रखा ही खराब हो चुकता है। समय पर न पान कर पाने अथवा न पक पानेसे खराब हो जाता है जो केवल पेटका भार ही बढ़ाने वाला होता है उसके पोषकतत्व नष्ट हो जानेके कारण ही वह व्यर्थ-सा हो जाता है। अस्तु—

ले पारोसिन झोपड़ी नित उठि करती रारि।
नित उठि करती रारि जाहि भावै तेहि दीजे।
यह घर आंगन द्वार खुशी आवे सो कीजे।
नकटी निलज सुभाय दुहूँ भातिन दुखदाई।
रीझे फोरे नयन खीजि अपमान कराई।
'अग्र' कहे नर पोटरी रघुपति द्वार उतारि।
ले पारोसिन झोपड़ी नित उठि करती रारि ॥३०॥

शब्दार्थ—पारोसिन=पास रहने वाली, पड़ोसिन। मालिक मकान। रारि=झगड़ा। सुभाय=स्वभावसे ही। रीझि=प्रसन्न होकर। खीजि=क्रोधित हो, अप्रसन्न होकर। पोटरी=भार, गठरी, धन।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जिस प्रकार कोई किसीके मकानमें रहे और वह मकान मालिक अथवा पड़ोसी उसे सदैव ही पेरना किया करे अर्थात् नित्यप्रति कोई न कोई झगड़ा ही लगाया करे कि हमको यह दो, वह दो। इस पर वह तङ्ग आकर ये कहे कि ओह ! मुझे तो ये

प्रतिदिनका झगड़ा जरा भी पसंद नहीं। भाई ! तू अपना मकान सम्हाल। मुझे ये नहीं चाहिए। मैं किसी प्रकार अपना निर्वाह कर लूंगा, किन्तु मुझे इस प्रकार इस मकानमें नहीं रहना है। मैं अपने निर्वाहके लिए दूसरा द्वार देख लूंगा।

(दार्ष्टान्त)—ठीक ऐसी ही दशा इस प्रकृतिरूपी माया पड़ोसिन अथवा मालिक मकानसे कायारूपी मकानमें निवास करने वाले जीव की है।

जब यह शक्ति-भर प्रयत्न करने पर भी, आशा एवं तृष्णा युक्त अपने मनोरथों की पूर्ति नहीं कर पाता और सांसारिक यातनाओंमें उलझता हुआ विषयोंसे संतुष्ट नहीं होता बल्कि घोर कष्टका अनुभव करता है। तो वह मारे परेशानीके तंग आकर कहने लगता है कि 'इस जीवनसे तो मरना अच्छा है।' ज्यों ज्यों मैं सुख पानेके लिए प्रयत्न करता हूँ त्यों-त्यों मुझे सुखके बदले कष्ट ही मिलता है। एक न एक पञ्चर लगा ही रहता है यानी हृदयमें एक न एक झगड़ा होता ही रहता है, कि अब यह करो वह करो, यह चाहिए वह चाहिए। इत्यादि—

कहनेका मतलब ये है कि यह जीव प्रकृतिसे कहता है कि हे माये ! तू अपना ये (शरीर) मकान सम्हाल ले, क्योंकि मैं तेरे इस नित्यके झगड़ेसे—कि मुझे इस वस्तुकी आवश्यकता है इसे लाओ, उस वस्तुकी आवश्यकता है उसे लाओ (यानी सांसारिक इन्द्रिय-भोगकी वस्तुओंसे) परेशान हो चुका हूँ। यह ले तेरा घर आंगन-द्वार आदि सहित ये पड़ा है। जो तेरी खुशी आये सो इसका कर। मैं तुझसे तो बहुत ही तङ्ग आ गया हूँ।

इतना कहकर बहुत ही दु:खित हो उसे वह कुछ खरी-खोटी भी सुना देता है। कि तू स्वभावसे ही नकटी व निर्लज्जा है। तू मुझे दोनों तरफसे कष्ट ही देने वाली है। अगर तू मेरे ऊपर प्रसन्न भी हो जाये तो मुझे ज्ञान-वैराग्य नेत्रहीन यानी अन्धा मूर्ख व पागल बनाती है और यदि नाराज हो गई तो तुझसे ईश्वर ही बचावे। नाना-प्रकारके कष्टदे देकर बड़े अपमानके साथ दर-दर फिरती हुई मुझे पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट ही कर देती हो और समानतामें तुम्हारा ये व्यवहार है। कि चैन तक नहीं लेने देती हो। अत: मैं तुझसे सब प्रकारसे तङ्ग आ गया हूँ। तुम बड़ी निर्लज्जा, नकटी तथा पूर्णदुष्टा हो, मैं अब तुम्हारे पास नहीं रहना चाहता। इससे हे देवी! लो ये सब तुम्हारा मकान पड़ा है, मुझे अब भी तो छोड़ो।

इस प्रकार जीवको मायाप्रेरित एवं आत्म-ग्लानियुक्त देखकर ही तो श्रीस्वामी अग्रदासजी उपदेश करते हुए कहते हैं कि हे जीव! तू इतना उदास व व्यग्र क्यों होता है। जरा विचार तो कर कि तू किसका व कौन है ?तू इस दुष्टके जालमें जान-बझकर मत फँस। ये तेरे जीवनधन की ग्राहक है इसलिए तू इससे बचकर अपनी संपत्तिकी पोटली अपने मालिक-परम सामर्थ्यवान व परमहितू श्रीसीतारामजीके दरवाजे पर ही क्यों नहीं उतार देता? यानी उन्हींके आसरे क्यों नहीं रह जाता? जो तेरे सब प्रकारके मनोरथोंको पूर्ण कर सुखानन्द दे अभय कर देगें। और ऐसा जानकर इस तरह इस दुष्टा-माया की नित्यप्रति की प्रेरणा से क्यों नहीं छूट जाता?

क्योंकि भगवत्शरण समझकर फिर ये तुझे तङ्ग नहीं करेगी, दूसरे फिर तेरे पास उसके छीननेके लिए रह ही क्या

जायेगा। जिसके पास तेरा धन रहेगा। वह उसकी रक्षा करेगा। इससे फिर तू चाहे जहाँ जिस तरह मनमें आवे स्वतंत्रतापूर्वक रहना, तेरेको फिर कोई भी न बोलेगा। क्योंकि—

हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित तेहि व्यापै विद्या।
भगतहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपत अति माया।
तेहि बिलोक माया सकुचाई। करि न सके कछु निज प्रभुताई।

(श्रीगोस्वामीजी)

कहनेका सारांश ये है कि अमूल्य मनुष्य जीवनको मायाके धोखेमें आकर व्यर्थ न बिता देना चाहिए। नहीं तो अन्तमें सिवाय पश्चात्ताप और महान् दुःखके और कुछ हाथ न लगेगा। इसे तो भगवत्शरण डालकर ही सफल बनाना चाहिए। जिसका फल आनन्द ही आनन्द मिलेगा।

टिप्पणी—नकटी निलज सुभाय—माया स्वाभाविक ही ठगिनी, दुष्टा व बेशर्म है देखिये—

एक दुष्ट अतिशय दुख रूपा। जा वश जीव परा भवकूपा।
पुनि रघुवीरहिं भगति पियारी। माया खलु नर्तकी बिचारी।

(श्रीगोस्वामीजी)

श्रीकबीरदासजीका यह अनुभव है। 'माया महा ठगिनि हम जानी।' इत्यादि—

लगभग जितने भी महापुरुष हुए हैं, सभी का यही अनुभव है। कि यह अविद्यादेवी स्वाभाविक ही जीवके जीवन धनको ठगने वाली है। यह ऐसी ठगिनी है कि श्रीकबीरदासजी ये महाशब्दसे विभूषित करते हैं। साधारण जीव की तो बात ही क्या है बड़े-बड़े ब्रह्मादि देवों मुनियोंको जिसने एक क्षणमें

अपने वशमें करके नाना-प्रकारके कष्ट दिये और संसारमें दर-दर फिराया।

शिव विरंचि कहँ मोहई को है वपुरा आन।

(श्रीगोस्वामीजी)

मुनि विज्ञान धाम मन करे निमिष महँ क्षोभ।

कहाँ तक कहें।

इसका जाल इतना प्रबल है कि जीव अपने पुरुषार्थसे इसके फंदेसे नहीं निकल सकता चाहे वह कितना ही फट-फटावे। ये इतनी निर्दय है कि इसीके जालमें फँसके जीव ८४ लक्ष योनियोंमें भटकता हुआ न मालूम कितने कष्ट सहता हुआ इससे क्षमा मांगता है किन्तु इसे उसकी कहाँ परवाह। अगर यह उसे छोड़ दे तो यह दुष्टा ही कैसी ?

दूसरे निर्लज्ज यह इतनी है कि भगवान, इसकी तो बात ही दूर है, इसके फंदमें फँसने वाले जीवसे भी दूर रहते हैं। साथ ही यह अपने पतिको भी मौका पाकर तंग किया करती है। कभी-कभी उनको भी इसके चक्करमें फँसकर तंग होना पड़ता है। किन्तु मायापति भगवान इसके स्वभावसे पूर्ण परिचित हैं अतः उन पर उसकी पूर्णतया नहीं चल पाती। इससे उनसे यह सदैव डरती रहती है। परन्तु अपने दुष्ट और निर्लज्ज स्वभावके कारण बिचारे जीवोंको तो तंग ही किया करती है। बड़ेसे न जीते तो छोटेके कान ऐंठने लगे। इसको ये शर्म नहीं आती कि हम इतने बड़े की भार्या होकर ये क्या तुच्छ काम करती हैं।

टिप्पणी—पोटली रघुवर द्वार उतार—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव ! मायाके फंदेसे घबड़ाकर क्यों

चिल्लाता है। इसका तो जीवन-धन लूटना ही काम है। तूने अपना सामान इसके सहारे छोड़ा ही क्यों है। अच्छा! कोई बात नहीं। जितना वह लूट चुकी है उसकी अब तू चिन्ता न कर, किन्तु जो कुछ रह गया हो उसीकी रक्षा कर। उसे सारे को समेट पोटली बाँध निश्चयतापूर्वक अपने मालिक श्रीरघुपति (जीवोंके मालिकजी) के यहाँ रख निर्द्वन्द हो जा। अर्थात् अब अपना सारा-जीवन श्रीभगवत्-भजनमें ही लगादे। तब ये तुझको उलटी मानती ही रहेगी और उसके लिए तुझे तङ्ग करनेके अतिरिक्त तुझे प्रसन्न करने की कोशिश करेगी ताकि तू फिर उसके फन्देमें पड़। भगवानके यहाँसे अपनी पोटली उठाकर उसे सौंप दे। किन्तु तू इससे सदैव सजग रहकर भगवानके यहाँसे अपनी पोटली न उठाना। इसे आशा ही आशामें रखना। इस तरह तू इसकी प्रेरणासे बच सकेगा और हर-जगह मारा-मारा फिरनेके बजाय प्रशंसाका पात्र होगा। साथही भगवान तुझे अपनी शरणमें देखकर अपने प्राणोंकी तरह रखेंगे। देख— (श्रीमुख बचन है)—

जो सभीत आवा शरणाई। रखिहौं ताहि प्राण की नाई॥
कोटि विप्र बध लागहि जाहू। आये शरण तजौं नहि ताहू॥

(श्रीगोस्वामीजी)

इस तरहसे तुझे फिर मायाका डर न रहेगा। क्योंकि 'माया' भगवानसे एवं उनके भक्तसे बहुत डरती है।

देखी माया सब विधि गाढ़ी। अति सभीत जौरे कर ठाड़ी॥
जन डरपहि तोसे अनेक खल अपनाये जानकीनाथ॥

बिनय पत्रिका (श्रीगोस्वामीजी)

अस्तु, इससे हे जीव ! मैं तुझसे यही कहता हूँ और कहूँगा भी कि घबड़ाने और चिल्लानेसे कोई कार्य न निकलेगा जो सीधा और सुन्दर-कल्याणकारी रास्ता मैंने तुझे बतला दिया है जिसमें वेद, पुराण, संतादि सभी महानुभावोंकी सम्मति है व जिसे सब एक स्वरसे पुकार-पुकार कह रहे हैं उसी बातका निश्चयतापूर्वक अनुसरण करो। तब तो तुम सुख पा सकोगे और अपने जीवनको सफल कर सकोगे, अन्यथा नहीं। देखिये—

सब कर मत खगनायक येहा। करिय रामपद पंकज नेहा॥
श्रुति पुराण सद्ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥
(श्रीगोस्वामीजी)

घर की दाढ़ी बन गई बनहू लागी आगि।
बनहू लागी आगि आग अन्तहु न बुझाई।
मन जीते बिन नाहिन कहुँ सीतलता पाई।
तप बल मत्सर कान्ति अनल की उपमा पावे।
ताको फल बल जाय आप जले और जलावे।
'अग्र' ते हरिजन ऊबरे चरण शरण दुरि भाग।
घर की दाढ़ी बन गई बनहू लागी आगि॥३१॥

शब्दार्थ—दाढ़ी=अध जली। मत्सर=द्वेष, दूसरे की बढ़ती न सहना। कान्ति=शोभा, दीप्ति। अनल=अग्नि। ऊबरे=बचे। दुरि=दूर भागना, छिपना।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे घरमें अग्निसे जलता हुआ अधजला, उससे बचनेके लिए भागकर वनको जावे। तिस पर भी वहाँ भी वह आग उसका पीछा न छोड़कर जलाती ही जावे, बुझे नहीं।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही काम, क्रोध, लोभादिसे उत्पन्न हुई त्रैतापाग्निसे जलता हुआ यह जीव घबड़ाकर शान्ति प्राप्त करनेके लिए जंगलको भागता है यानी गृहस्थाश्रमसे निकलकर वैराग्यकी ओर भागता है किन्तु वहाँ भी नाना-प्रकार की मायामयी रचना करता हुआ त्रैतापाग्निसे जलता ही रहता है। क्योंकि इन्द्रियोंको विषयोंसे विमुख करते हुए, बुद्धि द्वारा, मनको जीते बिना, विषयोंसे निवृत्ति नहीं होती। अर्थात् अनित्य अविद्यामय विकार नष्ट नहीं होते जिसके कारण जीवको घर व वनमें कहीं भी शान्ति प्राप्त नहीं होती।

अतः मनको अपने वशमें रखते हुए विषयोंसे हटाये रहनेसे ही श्रीप्रभु कृपासे भक्ति-प्राप्त होती है और जिससे ही जीवको विश्राम व चिरस्थाई शान्ति मिलती है। बिना भक्ति शान्ति-सुख कहाँ ? श्रीगोस्वामीजी—

अघ उचाट मन बस करै मारै मद मार।
आकर्षै सुख संपदा संतोष विचार॥
जे यहि भांति भजन कियो मिल रघुपति ताहि। (विनय)

इसमें सन्देह नहीं कि तपस्यादिसे स्वर्ग-सुख प्राप्त किया जा सकता है किन्तु उसमें ईर्षादिमयी आभा प्रतिभासित (झलकती) होती ही है। अर्थात् प्रसन्नता दिखाई तो देती ही है किन्तु एक तो तपबल नष्ट होनेकी चिन्ता रहती है। दूसरे अपनेसे अच्छे तप वालेका सुख देखकर हृदयमें मत्सरादि की अग्नि ज्वाल

उठ-उठकर दहकती रहती है साथ ही अपनेसे न्यूनतप वालेको देखकर प्रसन्नता तो होती है किन्तु यह दूसरोंको जलाने वाली होती है। अर्थात् आप स्वयं जले और अपने सुखसे दूसरोंको जलाया करे—यह तपस्याका फल है। इसके अतिरिक्त तप-फल भोगनेके बाद फिर अविद्यामयी त्रितापाग्निमें जलनेके लिए आना पड़ता है। यही आने-जाने वाला चक्कर बना ही रहता है।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि वह भक्तजन अविद्यामयी विकारोंसे बचकर इस त्रैतापाग्निके दुःखसे छुटकारा पाते हैं। जो श्रीसीतारामजीके चरण-कमलों की शरणमें भागकर छिप जाते हैं। अर्थात् श्रीचरणोंके ही आश्रयावलम्बी हो जगत् विषयों से दूर भागकर अपने भगवानका अहर्निश स्मरण करते हैं। भक्तजन ही अनन्त शान्ति-सुखके भागी होते हैं नहीं तो 'घरकी दाढ़ी बन गई बनहू लागी आगि' की तरह दशा तो होती ही रहती है।

टिप्पणी—मन जीते बिना नाहिन कहुँ सीतलता पाई—बिना मनके जीते कहीं शान्ति किसीको मिली है ? अर्थात् नहीं मिली। मनको जीते बिना शान्ति मिलना दुर्लभ ही नहीं असम्भव है। अब प्रश्न यह है कि मन तो बड़ा धूर्त है इसका जल्दी ही वशमें होना तो सहज नहीं। तो अब मनको किस तरह वश करके जीता जाय ? इस प्रश्नका उत्तर भी श्रीस्वामीजी इसी पदमें स्पष्ट कर रहे हैं और वह क्रिया बतला रहे हैं कि जिसके कारण मनको झक-मारकर वशमें होना पड़ता है। जीवको जरा भी परवाह उसके स्थिर करने व होने की नहीं रह जाती।

श्रीस्वामीजी कहते हैं कि लोग मन वश करनेके लिए ही नाना-प्रकारके शारीरिक व मानसिक कष्ट सहन करते हैं जिससे कि सिवाय इसके कि मायामयी किंचित् सुखकी प्राप्ति होती है किन्तु वह भी कष्टप्रद व नश्वर है और यथार्थ शान्ति-सुख देने वाला नहीं। इसके लिए तो मेरी समझमें यह एक ही अकाट्य व हर तरहसे सरल उपाय है कि कुछ करने-धरनेकी आवश्यकता नहीं। केवल अपने कर्त्तव्य बलका आसरा छोड़ अपनेको भगवान की शरण डाल देना ही सब कुछ है। देखिये—

मन क्रम बचन छांड़ि छल, जब लग जन न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहुं नहीं, किये कोटि उपचार॥

(श्रीगोस्वामीजी)

इसीसे—

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(श्रीगीताजी)

क्योंकि—

तेउ सुनि शरण सामुहे आये। सकृत प्रणाम किये अपनाये।

अब इससे अधिक जीवको क्या प्राप्त हो सकता है। और इससे सरल रास्ता भी कौन हो सकता है कि जिससे जाते ही सफलता है। साथ ही इस मार्गमें जाने वाले कौनसे सफल नहीं हुए जो भी गया अपने निर्दिष्ट स्थान पर जाते ही पहुँच गया। कितना साफ और मनोहर मार्ग है। देखिये—

गये राम शरण सबको भलो।

गनी, गरीब, बड़ो, छोटो, बुध मूढ़, हीन बल, अति बलो।
पंगु अंध, निरगुणी निसंबल जो न लहै जाचों जलो।
सो निबहो नीके जो जनमि जग रामराज मारग चलो।

आदि (श्रीगो०तुलसीदासजी-गीतावली)

कहते हैं कि ये ऐसा रास्ता नहीं है कि इससे कोई फिरकर आ जावे। ये कभी नहीं हुआ है और न होगा ही। जो इसमें गये हैं वे भक्तजन आवागमनसे छूटकर अपने नित्यस्वरूपको ही प्राप्त हुए और उन्होंने इस तरह मनुष्य-जीवनको सफल करते हुए अनन्त-शान्ति-सुखका अनुभव किया। क्योंकि ये मार्ग ही ऐसा है इसीसे इसे राजमार्ग कहा है।

सब मार्गोंका राजा होनेके कारण भूलने-भटकने आदिकी व्याधियां वहाँ स्वतः ही नहीं हैं। खुलासा लम्बा-चौड़ा-पक्का रास्ता है कोई किसी प्रकारका संकोच भय नहीं। आदि—

अब प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि ये कैसे ज्ञात हो कि प्रभुने जीवको अपना लिया है? क्योंकि वह तो नियमानुसार श्रीगुरु द्वारा भगवानकी शरण लेना। अब उसने श्रीप्रभुकी शरण में सचमुच डाला है अथवा पाखण्ड किया है इस बातका कैसे पता लगेगा। ये तो निश्चय है कि वहाँ दरबारमें इसकी भी आवश्यकता नहीं कि ये पाखण्डसे शरण हो रहा है। अथवा मनसे यानी सचमुच क्योंकि वहाँ तो 'कैसेहु' की ही प्रतिज्ञा है। केवल हुक्म ही नहीं। तो भी क्या हुआ कुछ न कुछ तो परिचय यहाँ मिलना ही चाहिए। इसके लिए भी श्रीस्वामीजीने इसी पदमें अति सूक्ष्मतासे स्पष्ट किया है कि उसको संसारसे बड़ा डर लगता है वह तो संसारमें

निवास करता हुआ भी भगवत्चरण छत्रछायामें ही भागकर छिपा रहता है—देखिये पद 'चरण शरण दुरि भाग' अर्थात् पूर्णतया वह एक प्रभु पर ही निर्भर रहता है यही सच्चा परिचय है। इसी भावको और भी स्पष्ट देखिये—

तुम अपनायो तब जानिहौं, जब मन फिरि परिहै।
जेहि स्वभाव विषयनि लग्यो,
तेहि सहज नाथ सो नेह छांड़ि छल करिहै।
सुत की प्रीति प्रतीति मीत की, नृप ज्यों डर डरिहै।
अपनो सो स्वारथ स्वामि सो,
चहुँ विधि चातक ज्यों एक टेकते नहिं टरिहै।
हरषि है न अति आदरे, निदरे न जरि मरिहै।
हानि लाभ, दुख सुख, सब
समचित हित अनहित, कलि कुचाल परि हरिहै।
प्रभु गुण सुनि मन हरषि है, नीर नयनन ढरिहै।
'तुलसीदास' भयो राम को विश्वास,
प्रेम, लखि आनन्द उमङ्ग उर भरिहै। अस्तु।
श्रीविनय (गोस्वामी तुलसीदासजी)

सहज चलौंगी आपनी अनखि मरेंगे लोग।
अनखि मरेंगे लोग वेद कुल कानि न करिहौं।
भलो बुरी सिर धारि अनन मारग अनुसरिहौं।
देव पितर विधि अविधि लोक परलोक न सूसो।
सरबसु सीताराम कोऊ रूसो कोउ तूसो।
'अग्र' सुमति पथ हरि वरौं करिहौं दृढ़ संयोग।
सहज चलौंगी आपनी अनखि मरेंगे लोग॥३२॥

शब्दार्थ—सहज=सरल,स्वाभाविक। अनखि=ईर्षा, कुढ़न, क्रोध, बैर, ईर्षाद्वेषादि। अनन=अनन्य, एकही। कानि=लज्जा मान, संकोच, मर्यादा। रूसो=अप्रसन्न हो जानो। तूसो=प्रसन्न हो जानो। विधि, अविधि=ग्रहण, त्याग।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी बड़ी निश्चयताके साथ दृढ़प्रतिज्ञ होकर कहते हैं कि मैं (सखीस्वरूपसे) अपनी श्रीगुरु-परम्परागत श्रीसद्‌गुरुके दिखाये हुए मार्ग पर बड़ी सावधानी, उत्साह व दृढ़तासे आरूढ़ होकर चलूंगी। चाहे संसारके लोग मुझसे अनख-अनख कर-ईर्षाद्वेषादि क्रोधपूर्ण व्यवहार करके मर जायें किन्तु मैं अपने प्रिय-प्यारेके प्रेम-पथसे न हटूंगी। और यहाँ तक कि लोक-वेदादि की मर्यादा की भी, अपने इस प्रेमके लिए, कुछ भी परवाह न करूँगी। इसके लिए मैं सबकी-सब भली-बुरी भी सुन लूंगी एवं भले-बुरे व्यवहारको बड़ी प्रसन्नता पूर्वक सह लूंगी किन्तु अपने प्राण-प्यारे स्वामीजीके उक्त अनन्यमार्ग की अनन्य-मार्गावलम्बिनी बनूंगी। यानी श्रीसीतारामजीको छोड़ मैं किसी भी देवताको न ग्रहण करूँगी क्योंकि मुझे देवताओं, पितरों, ग्रहण, त्याग, लोक-परलोक आदिमें यह नहीं निश्चय होता है कि मुझे किसे ग्रहण करना चाहिए और किसे त्यागना चाहिए। या दूसरे शब्दोंमें कहिये, कि मुझे देव, पितर, विधि, अविधि, लोक-परलोक एवं समस्त सृष्टिमें एक सीतारामजी ही दिखाई पड़ते हैं, और वही मेरे सर्वस्व हैं। इसमें चाहे कोई प्रसन्न हो, चाहे अप्रसन्न, मुझे इसकी किंचित्‌मात्र भी चिन्ता नहीं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि मैं ऐसी ही (उक्त) सुन्दर कल्याणकारिणी सुखप्रद बुद्धिसे अपने पूर्वजोंके प्राचीन रास्तेसे यानी गुरु-परम्परागत प्राप्त मार्गसे चलकर श्रीसीतारामजीको वरण करूँगी। और इस तरह ही उनसे अपने अनादि नातेको सुदृढ़ बनाऊँगी। मैं इस स्वाभाविक पथको नहीं छोड़ सकती। मैं इस पर ही चलूंगी। जगके लोग चाहे इस पर चिढ़कर भले ही मर जाँय। भला मैं इसके लिए क्या करूँ।

(दार्ष्टान्त)—इसी प्रकार जीव अनन्यभावसे अपने-अपने इष्टदेवके प्रेम-पथका दृढ़ताके साथ जगत् की निन्दा अस्तुति की कुछ भी चिन्ता न करते हुए, अनुसरण करें।

कुतिया चोरन मिलि गई को केहि पहिरो देय।
को केहि पहिरो देय जीव जा मिल्यो अविद्या।
काम क्रोध मद मोह लगे लूटन पुर विद्या।
हतो ब्रह्म को अंश कुमति नीचन संग कीन्हो।
लोलुप इन्द्रिय स्वाद सदन सूनो कर दीन्हो।
'अग्र' कहे तजि स्वान गति नरहरि पद दृढ़ सेय।
कुतिया चोरन मिलि गई को केहि पहिरो देय ॥३३॥

शब्दार्थ—हतो=था। गति=चाल, आदत, को केहि=कौन किसका। पहिरो=रखवाली, चौकसी। लोलुप=अत्यन्त लोभी, लालची। सदन=घर।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे घर की रखवाली करने वाली कुतिया किसी कारणवश (चाट,

लालचादिवश) चोरोंसे मिल जाये तो बतलाइये उसकी चोरोंसे कौन रक्षा करे। कौन उसकी चौकसी रखे।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही इस शरीररूपी मकानकी रक्षा करने वाली जीवरूपी कुतिया जब विषयरूपी लालचके वशीभूत हो कामादि चोरोंसे मिल जाये तो बताओ कायारूपी मकानमें रखे हुए जीवन धनकी कौन रक्षा करे।

जब जीव इस तरह अविद्यासे मिल जाता है तो काम, क्रोध, लोभ, मोहादिक चोर विद्याके पुर को यानी दैवीसंपत्ति (सत्य, संतोष, क्षमा, दया, शील, शान्ति आदि अच्छे-अच्छे गुण जो भगवानसे मिलाने वाले हैं, दैवी-संपत्ति कहलाते हैं।) को लूटते हुए जीवन-धनको हड़पने लग जाते हैं। जब जीव अविद्यासे मिल जाता है तो विद्या स्वतः चली जाती है तब अविद्या शरीररूपी मकानमें जीवको अपने वश करके अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है और इस तरह ये जीवको यथार्थसुख, शान्तिसे बंचित कर नाना-प्रकारके कष्ट देती हैं और ईश्वर जीवके अनन्त सम्बन्धसे जीवको विमुख कर देती है।

ऐसा ये ईश्वरअंश जीव अविद्यामय कामादिक चोरोंकी संगतिमें पड़कर कुमति द्वारा,इन्द्रिय-विषयोंके स्वादसे लालायित हो अपने यथार्थस्वरूपको भूलकर अपने और भगवानके संबन्ध तकके ज्ञानसे शून्य हो जाता है। और इस तरह अविद्या तथा उसके परिवार द्वारा अपने घरकी दैवी संपत्तिका नाश करवाकर दारिद्री की तरह आशावश जगत्में अनजानेकी तरह छुछाते हुए फिरने लगता है।

श्रीअग्रस्वामीजी जीवको उपदेश देते हुए कहते हैं कि

हे जीव ! तू इस उपरोक्त कुत्तेकी तरह छुछाने वाली आदत छोड़ दे और फौरन ही श्रीसीतारामजीके चरण-कमलोंका बड़ी-सावधानीसे सेवन कर। जो तेरी इस दैन्यदशा पर तुरन्त ही कृपा करेंगे। क्योंकि उनको ऐसे ही जीव बहुत प्रिय हैं।

बन्दौं सीताराम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।

(श्रीगोस्वामीजी)

अत: अब देर करनेका काम नहीं, भगवत्-शरण जाकर इस दुष्ट अविद्या तथा उसके परिवारसे छुटकारा ले और अपने बचे हुए अमूल्य-जीवन-धनको भगवत् अर्पणकर सफल बना। नहीं तो ये तुझे कोरा कर देंगे और अन्तमें तुझे पछता-पछताकर बड़े-बड़े कष्टोंको भुगतना पड़ेगा।

टिप्पणी—पुर❀ विद्या=विद्याका गांव अर्थात् दैवी-संपत्ति मायाके दो भेद हैं। पहली विद्या और दूसरी अविद्या अथवा विद्या, दैवी-संपत्तिमयी है और अविद्या आसुरी-संपत्तिमयी है। पहली जीव और ईश्वरके संबन्धको स्थापित कर जीवको निजस्वरूपका ज्ञान कराके सुखमय करने वाली है। अर्थात् ईश्वरसे जीवको मिलाकर भव-बन्धन छुड़ाने वाली है व दूसरी जीवको आवागमनके पचड़ेमें डालकर अनेकों कष्ट देकर भगवत्-विमुख करने वाली है। तथा महाकष्टप्रद है।

टिप्पणी—हतो ब्रह्म को अंश—जीव परमात्माका अंश है। केवल मायाके संसर्गसे ही इसकी ये दशा हो रही है कि ये अपने सहजस्वरूपको भुलाकर सुखमयसे, दु:खमय हो रहा है।

❀ देखिये टिप्पणी कु० छ० नं० १७।

देखिये—

ईश्वर अंश जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।
सो माया बस भयउ गुसाईं। बँध्यउ कीर मरकट की नाईं॥
जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परिगई। जदपि मृषा छूटत कठिनाई।
श्रुति पुराण बहु कहै उपाई। छूट न अधिक-अधिक अरुझाई॥
(गो॰ श्रीतुलसीदासजी)

भोजन पीछे अचमन घी को मरबे पीछे सार।
मरबे पीछे सार खाट ते भुम्म लियो जब।
कण्ठ रुकै पुनि करे टेक टेरै पूछै जब।
सुने न उत्तर देय सबै परिजन पछितावे।
गये सर्प ज्यों लीक ताहि कर दान दिबावे।
'अग्र' प्रथम चेत्यो नहीं परी तिनहि मुख छार।
भोजन पीछे अचमन घी को मरबे पीछे सार॥३४॥

शब्दार्थ—अचमन=भोजनान्तर हाथ मुंह धोना। सार=रसोषधि। खाट=चारपाई। टेक=हठ। टेरै=बुलावै लीक=लकीर, रेखा। छार=धूल। कर-दान=हाथसे पुण्य करना, पीटना।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—जिस प्रकार भोजन कर चुकने पर घी परोसनेके बदले घीसे हाथ मुंह भी धुलाये जांय, तो क्या? वह घी देना बिल्कुल व्यर्थ है। क्योंकि जब घी देना चाहिए था तब तो दिया नहीं और जब भोजनसे सन्तुष्ट हो गये तब घी देने लगे तो उस घी का अब फिर क्या होगा? कौन लेगा? वह बेकार ही है।

का वर्षा जब कृषी सुखाने। समय चूक पुनि का पछिताने।
(श्रीगोस्वामीजी)

इस तरह घीका परोसना तो दूर रहा घीसे आचमन भी करवाइये तो भी उस घीका उपयोग सर्वथा निरर्थक है।

इसी तरह रसऔषधिके लिए भी है कि जब जीव मर ही चका तो रस नहीं रसका बाप भी देते रहो, क्या होगा। वह रस अपना काम थोड़े कर सकता है। उसका देना न देना बराबर ही है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही ये जीव जीते-जी स्वस्थावस्थामें जब दान, पुण्य, भजन, भाव करनेकी शक्ति, श्रद्धा रहती है तब तो कुछ करता नहीं। मायामय कारबारमें उलझा रहता है। और जब अन्तिम-समय आकर मृत्युविवश पृथ्वी पर लिटा दिया जाता है कि जिस समय कफादिसे कण्ठ रुन्धा हुआ होता है, तब कुटुम्बियोंके कहने पर भी, दान, पुण्य भगवन्नाम आदि न लेने की हठ करता है। अथवा लिया ही नहीं जाता है। और बुलाने पर बार-बार भी पूछनेसे उत्तर ही नहीं देता।

दूसरे इस समय आँख, कान, वाणी आदि इन्द्रियां भी जिन्हें इसने अपनी समझकर जीवन पर्यन्त उनके लिए ही परिश्रम किया, अनेकों तरहके कष्ट सहकर उनकी इच्छा पूर्तिकी, मनमाने भोग दिये। आज वे भी जीवको मृत्युवश जानकर उसके कार्यसे स्तीफा (तिलांजलि) दे देती हैं। इस तरह जीवको हर प्रकारसे केवल संसारसे ही नहीं बल्कि अपने महा-विश्वासपात्र शरीरसे भी धोखा होता है। तब बतलाइये, वहाँ उस समय कौन, किसकी

सुने व कौन, किसका उत्तर दे। ऐसी अवस्था देखकर, समस्त परिजन कुटुम्बी लोग, अपना कुछ भी वश न चलता देख, पछता-पछताकर रह जाते हैं। और तब लाचार होकर अपने संतोषके लिए, 'सांपकी लीक' पीटने जैसी कहावतको चरितार्थ करते हुए उसके (मृत्युविवश जीवके) हाथसे दान-पुण्य वगैरह करवाते हुए श्रीरामनाम लेनेका आग्रह करते हैं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जो जीव उपरोक्तानुसार मृत्युवश होनेके पूर्व ही सावधान होकर नहीं चेतते हैं। उनके मुंह पर पीछे समय आने पर, ऐसी ही धूलि पड़ती है। अर्थात् उनको इसी तरह कष्ट सहते हुए पछता-पछताकर योंही रह जाना पड़ता है। देखिये—

मन पछितैहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाय हरिपद भजु, करम, बचन, अरु हीते।
सहसबाहु दशबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते।
हम हम करि धन धाम सँवारे, अन्त चले उठि रीते।
सुत वनितादि जानि स्वारथ रत, न करु नेह सबही ते।
अन्तहु तोहि तजेंगे पांमर! तू न तजै अबही ते।
अब नाथहिं अनुराग जागु जड़ त्याग दुरासा जीते।
बुझै कि काम अग्नि 'तुलसी' कहुं विषय-भोग बहु घी तें।

कहनेका तात्पर्य ये है कि जब तक शरीरमें शक्ति है तब तक ही कुछ हो सकता है अतः इसी समयमें जितनी दैवी-संपत्ति एकत्रित की जा सकती हो, कर लेना चाहिए। यही धन समय पर काम देगा। अर्थात् दान, पुण्य, भजन, पूजन करनेके लिए है बुढ़ापे का रास्ता देखना यथोचित नहीं। अपनी इसी स्वस्थावस्थामें जो कुछ किया जा सके कर ही लेना ठीक है।

नहीं तो अन्तमें जब शरीर ही शक्तिहीन हो जायेगा तब यह सब कैसे बन सकेगा और वही दशा होगी कि पछताना ही हाथ लगेगा। कि ये न कर लिया, वह न कर लिया इत्यादि। और अन्त समयमें वही क्रिया जो बहुधा हुआ करती है की जायेगी। क्योंकि उस समयका दानपुण्य, औषधि आदि सब ऐसे ही व्यर्थ हैं जैसे भोजन पीछे घीका आचमन तथा मरबे पीछे सार एवं गये सर्प की लीकको पीटना अस्तु।

गये सर्प ज्यों लीक ताहि कर दान दिबावे।

टिप्पणी—बहुधा देखनेमें आता है कि मरते समय जीवको मरते देख संसारके लोग गौदान, अन्नदान, पुण्य बगैरह उसी मरते जीवके हाथसे करवाते हैं। जिसका उस जीवको जरा भी भान नहीं रहता है। क्योंकि उसे मृत्युवश जानकर लगभग समस्त इन्द्रियां अपना-अपना कार्य पहलेसे ही छोड़ बैठती हैं। उस समय न जीव सुनकर समझ सकता है न कुछ कह सकता है और न उसे किसी कार्यका भान ही रहता है। केवल नेत्रोंमें आंसू भर-भरकर अपने जीवनके कृत्योंका सिंहावलोकन करता हुआ अतीव विकल होता दिखाई देता है।

अब आपही बतलाइये कि ऐसे दान-पुण्यसे क्या लाभ हो सकता है जिनका कि ज्ञान तक नहीं।

इसी बातको श्रीस्वामीजी सर्पलीकका दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे किसी साँपके निकल जाने पर उसके भागनेसे जो जमीनमें लकीर बन जाती है उसे ही साँप समझकर, उसके जैसा व्यवहार उस रेखाके साथ किया जावे, यानी उस लकीरको पीटा—मारा या कुछ भी क्रोधपूर्ण

व्यवहार किया जाय, तो बतलाइये उस सांपका ऐसा करनेसे क्या बन-बिगड़ सकता है। यह करना केवल मूर्खता नहीं तो क्या ? बिल्कुल व्यर्थ है।

अन्ध यवन फूटी मसिद बहिरे आगे नाद।
बहिरे आगे नाद नारि सुख षण्ड न जाने।
बचन रचन बहु तर्क कहां कहि मूक बखाने।
नासा बिन मुख मंडन कहै सब ताहि वितंडी।
सुख सम्पति उपहास शीश पलना धर दण्डी।
नरदेही हरिभक्ति तज 'अग्र' कहा तेहि स्वाद।
अन्ध यवन फूटी मसिद बहिरे आगे नाद ॥३५॥

शब्दार्थ—यवन=मुसलमान। मसिद=मसजिद। नाद=एक पानीका बड़ा गड्ढा वाला बर्तन, टब, गड्ढा, खाई आदि, स्वर, ध्वनि। षण्ड=हिजड़ा, नपुंसक। तर्क=खण्डन-मण्डन। वितण्डी=मिथ्यावादी, पाखण्डी। दण्डी=संन्यासी। मण्डन=सिंगार करना।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे अन्धे मुसलमानको बिना किसीके बतलाये व समझाये फूटी मसजिदका अनुभव नहीं हो सकता कि वह फूटी है व अच्छी है, या मसजिद के बाहर आगे ही नाद है नहीं, क्योंकि वह देख नहीं सकता।

(दार्ष्टान्त)—इसी तरह अन्ध (ज्ञानवैराग्य नेत्ररहित) मुसलमानरूपी जीवको बिना समझे-समझाये यह ज्ञान नहीं हो सकता है, कि अनन्तछिद्रों वाला ये शरीर फूटी मसजिदके समान जल्दी ही नष्ट होने वाला है। और इसके बाहर निकलते ही आगे नादरूपी चौरासी है।

क्योंकि बिना गुरुके समझाये-बुझाये जीवके उक्त दोनों नेत्र कैसे खुल सकते हैं? और बिना इन नेत्रोंके दृढ़भक्ति कैसे हो सकती है? साथ ही बिना भक्तिके नरदेहका यथार्थसुख प्राप्त होना भी असम्भव है।

जिस प्रकार बहिरे जीवको बढ़िया-बढ़िया रागरागिनियोंकी मनोहर सुरीली तानोंकी ध्वनिका सुख—स्वाद असम्भव है। व जैसे नपुंसकको नारी—सुखानुभव नहीं हो सकता है। वैसे ही लौकिक व पारलौकिक सुख भक्तिरूपी पुरुषार्थहीन जीवको नहीं हो सकता है।

एवं जैसे मूक (बौरा, वाक्शक्तिरहित) बचनोंकी रचनाकर तर्क नहीं कर सकता है अथवा बोल न सकनेके कारण वाणीके स्वरूप व सुखको नहीं जान सकता है, न उसका अनुभव ही कर सकता है। वैसे ही भक्तिरहित जीव, भक्तिके वास्तविक स्वरूपको नहीं समझ सकता है और न भक्ति—सुखका अनुभवी हो सकता है।

साथ ही जैसे नकटीके मुखका सिंगार व्यर्थ है। उसे सब पाखण्ड ही कहेंगे। वैसे ही भक्तिरूपी नासिका बिना सिंगाररूपी समस्त साधनायें व्यर्थ हो जाती हैं। अर्थात् शोभा व सुख प्रदाता नहीं हो सकती हैं।

इसके अतिरिक्त जैसे बालकका पलना सिर पर धरकर

मार्ग चलने वाला संन्यासी, समस्त सुख-संपत्तियुक्त होते हुए भी हँसीका पात्र होता है, क्योंकि वह अपने यथार्थ कर्त्तव्य मार्गसे च्युत हो अपने वेष (संन्यास) को भूल जाता है। पूज्यपाद श्रीस्वामीजीने भी संन्यासीको वैराग्यसे विमुख होने पर उपहास का पात्र कहा है देखिये—

सब नृप भये जोग्य उपहासी। जैसे बिन बिराग संन्यासी।
(श्रीमानस)

ठीक इसी प्रकार ये नर-तनधारी जीव भी बिना भक्तिके जो इसका प्रधानकर्त्तव्य है, उपहासका पात्र होता है। क्योंकि नर-तन सदृश देवदुर्लभ वस्तु प्राप्त करते हुए भी उसके यथार्थ सुखानन्दसे वंचित ही रह जाता है। इतना ही नहीं इसके कारण ही उसे नाना-प्रकार की योनियोंमें पड़कर उसे अनेकों असह्य कष्ट सहने पड़ते हैं।

श्रीस्वामीजीके कहनेका सारांश यह है कि—

(दृष्टान्त)—जैसे अन्धा यवन फूटी मसजिद के,
बहिरा नाद के, मूक वाणी के,
नकटी नाक के, नपुंसक नारी के,
विषयी संन्यासी, संन्यास के—

सुख व स्वादको नहीं जानता, न उसका अनुभव कर सकता है।

(दार्ष्टान्त)—ठीक वैसे ही श्रीसीतारामजीके चरण-कमलों में दृढ़-अनुराग-भक्ति बिना जीवको मनुष्य-शरीर प्राप्त करनेका यथार्थसुख व अनुभव नहीं उपलब्ध हो सकता है।

अतः मनुष्यको भगवानकी प्राप्तिके लिए भक्ति कर अपने नर-तन जीवनको सफल करना चाहिए।

श्रुति पुराण सद्ग्रन्थ कहाहीं। रघुवर भक्ति बिना सुख नाहीं॥
वारि मथे बरु होय घृत सिकता ते बरु तेल।
बिन हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल॥
(श्रीगोस्वामीजी)

गङ्गा कठौती मांझ है जो मन चंगा*होय।
जो मन चंगा होय अविद्या संग निवारे।
श्रीगुरु के उपदेश हृदय हरिपद दृढ़ धारे।
बातन ही के दीप तिमिर कहुँ जात न देखो।
जल प्रवाह पर चित्र कहो कौने अवरेखो।
'अग्र' भरम कहि मन कथा करी भरोस न कोय।
गङ्गा कठौती मांझ है जो मन चंगा होय॥३६॥

शब्दार्थ—कठौती=काष्टका पात्र। चंगा=स्वस्थ स्थिर निश्चयात्मक। अविद्या=कुमति, माया। बातन=बातोंके, बचनोंके। अवरेखो=लिखा। जल प्रवाह=जलकी बहती धार। भरम=भ्रम, भटकना, अनिश्चयात्मक।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे स्थिर व एकाग्र मन वाले जीवको श्रीगङ्गाजी कठौतीमें ही भावना द्वारा प्राप्त हो सकती हैं अथवा जैसे चंगे मनके लिए कठौतेमें ही गङ्गाजी हैं।

---

* स्वस्थ।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही यदि जीवका मन चंगा (सावधान, स्थिर, सजग व सच्ची भावना वाला, नि:संदेह, निश्चयात्मक आदि) होता है तो उसके लिए घर बैठे-बैठे ही कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं होती। कहनेका मतलब यह है कि शरीरमें मन पर ही सब कुछ निर्भर है। यदि ये सच्चा है, निश्चयात्मक है तो इसे संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। नहीं तो सब कुछ केवल कठिन ही नहीं अप्राप्य है। अत: मनको सदैव चंगा ही रखना चाहिए।

अब प्रश्न यह होता है कि ये तो ठीक है मनको (अचंचल) रखना चाहिए किन्तु इसे अचंचल करने की क्रिया क्या है ? एवं कैसे प्रतीत हो कि ये निश्चयात्मक हो गया है ?

इन्हीं उक्त दो प्रश्नोंका उत्तर देते हुए श्रीस्वामीजी कहते हैं कि सदैव बुद्धि द्वारा मनको वशमें करके यह देखते रहना चाहिए कि ये अविद्याका सङ्ग तो नहीं करता और कहीं अपने श्रीगुरु मन्त्रोपदेश पर दृढ़ न रहकर, श्रीसीतारामजीके चरण-कमलोंसे विमुख तो नहीं होता, इत्यादि।

उक्त प्रश्नोंका अति सरल तथा सारगभित एवं बड़ी पटुतासे समाधान करते हुए आप आगे कहते हैं कि मनको बुद्धिसे वशमें रख, स्थिर रखना साधारण बात तो नहीं किन्तु जिसने उक्त रीतिसे मनकी चौकसी कर अपने वशमें कर लिया है उसने जगत्को अपने आधीन बना लिया है। श्रीस्वामी शंकराचार्यजी का भी यही मत है।

जितं जगत् केन मनो हि येन।
मन के जीते जीत है मन के हारे हार॥(लोकोक्तिसे)

मतलब कहनेका ये है कि जो मन सदैव अपने इष्टदेव की सेवामें दृढ़ रहकर अविद्याका संग त्याग देता है वही स्थिर निश्चयात्मक अथवा चंगा कहलाता है।

अतः जो जीव अपने मनको चंगा करना चाहे वे इसी युक्ति द्वारा, अविद्या (आसुरी-सम्पत्ति)का संग त्याग,अपने मनको गुरु-परम्परागत मार्ग द्वारा इष्टदेवके चरण-कमलोंमें सदैव लगावे। जहाँ तक हो इसके अतिरिक्त उसे कहीं न जाने दे। यदि भागे तो फिर बुद्धि द्वारा ला-लाकर वहीं लगावे। थोड़े दिनोंके बाद वह स्वतः अभ्यस्त हो जायेगा और तब फिर अभीष्ट प्राप्तिमें देर भी न लगेगी।

नहीं तो जैसे बातोंके दीपक (चिराग, दीया,) से अन्धकार नष्ट नहीं होता वैसे ही केवल मन्त्रोपदेश लेकर एवं कुछ लिख-पढ़कर ज्ञान बकनेसे हृदयका अन्धकार नहीं जा सकता है। अर्थात् बिना आचरण किये व मनको उक्त विधिसे लगाकर स्थिर किये अभीष्ट की प्राप्ति नहीं हो सकती।

दूसरी जैसे बहती हुई धारामें कोई चित्र नहीं बन सकता है वैसे ही जब तक मन-चंचल है तब तक अभीष्ट की प्राप्ति नहीं। साथ ही मन भी चंगा नहीं कहा जा सकता।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं जब तक ये मन-चंचल रहता हुआ संसारके नाना-प्रकारके मायामय जालमें भटकता फिरता है व मनमानी बातें बनाता हुआ किसीका भरोसा नहीं करता तब तक उसके लिए यह 'गंग-कठौती मांझ है जो मन चंगा होय' वाली कहावत लागू नहीं हो सकती है क्योंकि उसका मन चंगा नहीं है चंचलताका रोग उसे लगा हुआ है। जब ये मन

उपरोक्तानुसार चंगा बनाकर अपने वशमें कर लिया जाय तब उसके लिए कठौतीमें ही गङ्गाजी प्राप्त हो सकती हैं। कहनेका सारांश यह है कि बिना मनसे भजन किये भगवत्-प्राप्ति नहीं हो सकती जो जीवनकी सफलता है—इसीको गोस्वामीजीके शब्दोंमें देखिये—

सिय रामस्वरूप अगाध अनूप बिलोचन मीनन को जलु है।
श्रुति रामकथा मुख रामको नाम हिये पुनि रामहिको थलु है॥
मति रामहि सों रति रामहिसों गति रामकी रामहिको बलु है।
सबकी न कहैं तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है॥

बस, यही क्रिया मनको वशमें करनेकी है और यही इसकी परीक्षा भी है कि कहीं और जगह तो ये नहीं जाता। बस इतना हो गया हो तो गङ्ग-कठौतीमें ही है। जीवन-सफल हो गया।

टिप्पणी—अविद्या संग निवारे—मायामयी उलझनोंमें न फँसे। श्रीस्वामीजी मनको स्थिर होने की पहिचानके लिए यह खास बात बतला रहे हैं, कि जब 'मन' बुद्धिके वशमें हो जाता है तो वह अविद्यामय कार्योंमें केवल अस्थिर ही नहीं होता बल्कि उसकी ओर आकर्षित भी नहीं होता। वह सदैव ही विद्या की ओर आकर्षित होकर स्थिर हो आनन्दपूर्ण रहता है। देखिये—

रघुवरहि कबहुं मन लागि है।
कुपथ, कुचाल, कुमति, कुमनोरथ, कुटिल, कपट कब त्यागि है।
जानत गरल अमिय विमोह बस, अमिय गनत करि आगि है॥
उलटी रीति प्रीति अपने की तजि प्रभुपद अनुरागि है।

आखर अरथ मंजु मृदु मोदक राम प्रेम पगि पागि हैं।
ऐसे गुनगाय रिझाय स्वामि सो पाइहे जो मुंह मांगि हैं॥
तू यहि विधि सुख-सैन सोइ हैं, जिय की जरनि भूरि भागि है।
रामप्रसाद दास तुलसी उर राम-भगति-जोग जागि है॥

अस्तु इसकी यही परीक्षा है कि जब इसकी (मनकी) स्वत: ऐसी वृत्ति हो जाय कि भक्तियोगमें सानन्द रमने लगे।

टिप्पणी—अग्र भरम करि मन कथा करी भरोस न कोय—श्रीस्वामीजी अस्वस्थ मनकी आदत कहते हैं कि मन बड़ा-चंचल है और बड़ा-धोकेबाज है। यह सदैव इन्द्रिय विषयोंके सुखके लिए लालायित रहता हुआ जगजालमें भटकता हुआ जकड़ा रहता है। और कभी आनन्दित नहीं हो पाता क्योंकि यह भ्रमात्मक जगत्‌को ही जान-जानकर सुख-स्थान समझता है। साथही अपने ही मनकी बातें बना-बनाकर किसीका भी भरोसा नहीं करता और इस तरह मनमाने ही मार्गको कल्पित करता हुआ भागता है। वहाँ भी भूलकर तीसरे मार्गका अनुसरण करता है। इस तरह ये छटपटाया करता है किन्तु किसी एकमें भरोसा करके दृढ़-विश्वास नहीं करता।

अत: इसके चक्करमें न पड़कर बुद्धि द्वारा अविद्या सङ्गसे बिलगकर इसे विद्यामें लगानेका प्राणपनसे सतत् प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि इसके बिना सब किया—कराया गुड़-गोबर हो जाता है। देखिये—

तन को जोगी सब करें मन को विरलो कोय।
सहजहिं सब सिधि पाइये जो मन जोगी होय॥

माला फेरत युग गया फिरा न मन का फेर।
कर का मन का गेरके मन का मन का फेर ॥(श्रीकबीरदास)

अतः सदैव भगवानसे इसे अपनेमें लगाने की यह प्रार्थना करनी चाहिए कि हे भगवन् ! मनको स्थिर कर आपमें लगाने की मेरी शक्ति नहीं, आपही अपनी कृपा द्वारा इसे अपनेमें लगा सकते हैं। देखिये—

मेरो मन हरिजू हठ न तजे।
निशिदिन नाथ देउँ सिख बहुविधि करत सुभाव निजै।
ज्यों युवती अनुभवति प्रसव अति दारुण दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल विसारि शूल शठ पुनि खल पतहिं भजै।
लोलुप भ्रम गृह-पशु ज्यों जहँ तहँ सिर पद-त्राण बजै।
तबहु अधम बिचरत तेहि मारग कबहु न मूढ़ लजै।
हों हारो करि यतन विविध विधि अतिसै प्रबल अजै।
'तुलसीदास' बस होय तबहि जब प्रेरक प्रभु बरजै।

विनय (गो० श्रीतुलसीदासजी)

अतः प्रभु मेरे पर ऐसा ही अनुग्रह कीजिये।

इस प्रकार की प्रार्थना करते हुए उक्त विधियोंके अनुसार ही आचरण करनेसे एवं भगवत्-कृपासे 'मन' स्थिर होता है। ठीक है—

यह गुण साधन ते नहिं होई, तुम्हारी कृपा पाइ कोइ कोई।

(गो० श्रीतुलसीदासजी)

कंडी मार बिठौरा चूके भले सो तीरंदाज।
भले सो तीरंदाज दुर्लभ नर देही पाई।
सुर वर त्रिगुणाधीश तहाँ ते मूढ़ गवाई।
बिछरो पावन चरण चूक चाल्यो चौरासी।
जग प्रवाह में परो कंठ अंतक दृढ़ फांसी।
'अग्र' स्वामि सों आंतरो याते भयो अकाज।
कंडी मार बिठौरा चूके भले सो तीरंदाज ।।३७।।

शब्दार्थ—कण्डी=छोटी उपली। बिठौरा=कंडोंका ढेर। अन्तक=काल, नाशकर्त्ता। आंतरो=अन्तर, बीच, परदा। चूके=असफल रहे, गलती की। जग-प्रवाह=जगत् बहाव, (विश्व-विश्वास)

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे कंडीको उड़ाने वाला कण्डीके बड़े ढेरमें भी निशाना लगानेसे चूक जाय—बारीकसे बारीक निशाना लगाने वाला मोटेसे मोटा निशाना न लगा सके—तो उसका तीरंदाज कहलाना ही व्यर्थ है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही यह जीवरूपी तीरंदाज कण्डीका निशाना लगाकर अति कठिन कार्यमें सफलता प्राप्त करता है—कि दुर्लभ नर देहको प्राप्त कर लेता है। जो इसके लिए अति कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव था। जिसे केवल श्रीपरात्पर प्रभु अपनी प्राप्तिके लिए ही अपनी अहैतुकी कृपा द्वारा जीवको प्रदान करते हैं। देखिये—

कबहुँ कि करि करुणा नर देही। देत ईश बिन हेतु सनेही।।
(श्रीरामचरितमानस)

किन्तु ये बिठौरामें निशाना लगाना चूक जाता है—कि भगवत्-भक्ति द्वारा भगवानकी प्राप्ति करनेसे चूक जाता है। जो इस शरीरसे ही अति सुलभ थी। जिसे वह नहीं कर पाता है। इसलिए इसका नर-तन प्राप्त करना वैसे ही व्यर्थ हो जाता है जैसे बिठौरा चूकने वाले तीरंदाजका तीरंदाज कहलाना।

इस तरह देवताओंमें श्रेष्ठ त्रिदेवोंके कारणके कारण श्रीसीतारामजीके यहाँसे इस नर-तन जीवनरूपी पूंजी (धन) को प्राप्त करके, ये मूढ़ जीव ! व्यर्थमें गवां देता है, क्योंकि जिस वस्तुके प्राप्त्यर्थ इसे यह शरीर मिला था, इन श्रीसीतारामजीके पतित-पावन चरण-कमलोंको विस्मरण करके, विश्व-विश्वासमें पड़ जाता है और अपने-जीवनरूपी पूंजीको व्यर्थ मायामय भ्रमों में व्ययकर मौका चूक जाता है। इस तरह अपने यथार्थ कर्त्तव्य को न पालन कर, ध्येयको विस्मरण करता हुआ स्वयं अपराधी बनता है। जिसका कि दण्डस्वरूप फल उसे फिर चौरासी योनियोंमें प्रवृत्त हो भोगना पड़ता है। जो उसे केवल अपने मालिकसे बिछुड़नेके कारणसे होता है।

इस तरह ये जीव आवागमनके दृढ़-बन्धनमें फँसकर अनेकों संकट सहता है। जिससे छुटकारा पाना बिना श्रीरघुनाथजी की कृपाके संभव ही नहीं है।

श्रीस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव ! तुझे इसी कारणसे न इस महान् सांसारिक-बन्धनरूप संकटमें पड़ जाना पड़ता है बल्कि तू अपने स्वामी की भक्ति छोड़ सांसारिक मिथ्या-सुखसे लालायित होकर विषयों की ओर चला जाता है और अपने

मालिकसे पृथक् हो जाता है। जब तू ये जानता है कि ये ही सब मेरे कष्टोंके कारण हैं तो तू इनको छोड़कर क्यों नहीं अपने प्रभुसे मिलनेका प्रयत्न करता है। जो तुझे हर प्रकारसे सुखी करने वाले हैं।

टिप्पणी—दुर्लभ नर देही—जगत्में मनुष्य-जीवन दुर्लभ है। यह आसानीसे (जीवको अपने कर्मबलसे) प्राप्त नहीं होता है और न हो सकता है। यह देवताओं तक को दुर्लभ है क्योंकि ये कर्मभूमि है। देवलोकमें कर्म नहीं हो सकते। वहाँ वह अपनी उन्नति नहीं कर सकते, वह तो च्युत होकर वहाँसे फिर इसी कर्मभूमिमें आयेगा, तभी फिर यहाँ प्रभुकृपासे नरदेह प्राप्त हो गई तो फिर कर्म करके बढ़नेका मौका मिलता है और यदि इस मौके पर मायाजालमें फँस कुछ न कर पाये तो फिर चौरासी योनिका चक्कर पड़ा। जिससे निकलना तो असम्भव ही है क्योंकि किसी योनिमें भगवत्-भजन सम्भव ही नहीं। हाँ उन्हीं की किसी समय जीव पर करुणा-कृपा हुई तो यह सुअवसर (मनुष्य-जीवनका) मिला, अन्यथा इसकी प्राप्ति नहीं।

भगवान की (अहैतुकी) कृपासे ही मनुष्य-जीवन प्राप्त होनेसे इस जीवनका और भी महत्व बढ़ गया है। यदि ये कर्म द्वारा हो सकता तो इसमें ये विशेषता न रहती जो अब है। अतः इसके महत्वके विषयमें जो भी कहा जाय सोचा जाय सब थोड़ा ही है देखिये—श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें—

बड़े भाग्य मानुष तन पावा। सुर दुर्लभ सद्‌ग्रन्थन गावा।
साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाय न जो परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावई सिर धुन धुन पछिताय।
कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाय।।

यहि तनु कर फल विषय न भाई। स्वर्ग स्वल्प अंतहु दुखदाई।
नर तनु पाय विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते शठ विष लेहीं।
ताहि कबहुँ भल कहे न कोई। गुंजा गहे परस मनि खोई।
आकर चारि लाख चौरासी।योनि भ्रमत यह जिव अविनाशी।
फिरत सदा माया के प्रेरे। काल कर्म स्वभाव गुन घेरे।
कबहुंक करि करुणा नर देही। देत ईस बिन हेतु सनेही।
नर तन भव वारिध कहँ वेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो।
करणधार सत्गुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा।

जो न तरे भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृत निंदक मन्द मति आतम हन गति जाय।

(श्रीरामचरितमानस)

टिप्पणी—स्वामि से आँतरो—जीवका अपने मालिकसे अन्तर पड़ गया। क्योंकि इसने संसारमें आकर अपना सम्बन्ध मायासे मान लिया है और इस तरह अपने यथार्थ नातेको भूलकर अपने और अपने मालिकमें अन्तर डाल लिया है। नहीं तो ये उन्हींका अंश है इसे दु:ख कैसे हो सकता था। मगर इसने अपने हाथों ही अपने पैर पर कुल्हाड़ी मार ली है तो इसके लिए कोई क्या करे।

किन्तु जब ये आचार्य द्वारा ये सब बातें समझकर आचरणसे माया-सम्बन्धको तोड़ देता है और अपने मालिकसे फिर अपना नाता (भक्ति, प्रेम) लगा लेता है, तो उसका ये अन्तर दूर होकर वह अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। और यहाँ तक कि अपने स्वामीके समान ही हो जाता है।

श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें देखिये—

जिब जबते हरिते बिलगानो। तब से देह गेह निज जानो।
मायावश स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रमसे दारुण दुख पायो।
जो मारग श्रुति साधु दिखावै। तेहि मग चलत सबै सुख पावै।
सेवत साधु द्वैत भय भागै। श्रीरघुवीर चरण लय लागै।
देह जनित विकार सब त्यागै। तब फिर निजस्वरूप अनुरागै।
जो तेहिं पंथ चले मन लाई। तो हरि काहे न होइ सहाई।
(विनय पत्रिका)

उनकी ही कृपासे यहाँ तक हो जाता है कि जिस अन्तरके कारण उक्तदशा हुई थी उसका अस्तित्व भी नहीं रहता। देखिये—

सो जाने जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं हो जाई।
(श्रीरामचरितमानस)

खटिया टूटे भू शरण भुजा भग्न भे ग्रीव।
भुजा भग्न भे ग्रीव दंड जमराज धरेगो।
तहां धरोहर और राम बिन कौन करेगो।
तात, मात, सुख, सखा प्रिया परिजन परिचारो।
सब सो परो विछोह ते दिन हरिनाम सहारो।
'अग्र' आसरो आन तजि राम चरण दृढ़ सीव।
खटिया टूटे भू शरण भुजा भग्न भे ग्रीव ।।३८।।

शब्दार्थ—खटिया=चारपाई। भू=पृथ्वी, जमीन। भग्न=टूटा। ग्रीव=गर्दन, कंठ। दंड=सजा। आसरो=सहारा। परिचारो=नौकर, चाकर, सेवक। आन=दूसरा।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे चारपाई टूट जाने पर पृथ्वीकी शरण ली जाती है। हाथ टूट जाने व शक्तिरहित हो जाने पर गर्दन व कण्ठ की सहायता ली जाती है। हाथमें पट्टी बाँधकर, टूटे हुए हाथको पट्टी बाँध गलेमें ही लटकाते हैं। साथ ही शारीरिक शक्ति न रहने पर वाणीसे ही कार्य चलता है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही मरणान्तर जीवके शरीरको भूमिमें ही अवलम्ब मिलता है। क्योंकि वह येन-केन-प्रकारेण पृथ्वीमें ही मिल जाता है। किन्तु शरीर छूटनेके पूर्व हाथ-पैर आदि इन्द्रियां थकित हो जाने पर, कंठका ही अवलम्ब मिलता है। उस समय वाणी द्वारा ही समस्त प्रयोजन दूसरोंके द्वारा ही पूर्ण-सिद्ध किये जाते हैं।

इस तरह इस अवस्था तक तो जगत्के सहारोंका भरोसा हो सकता है किन्तु जब जमगण द्वारा कंठ पर ही नौवत आ जाती है, तब किसीका भी वश नहीं चलता और न उस समय कोई किसी प्रकारकी मदद पहुँचा सकता है। अर्थात् जब यमदूत आकर गलेमें फांसी डाल मुंह बोलना बन्दकर देंगे व नाना-तरह के कष्ट देंगे। तब हे जीव ! वहां तू किसका सहारा लेगा। वहाँ सिवाय श्रीसीतारामजीके और कौन सहायता पहुँचायेगा। क्योंकि वहाँ ये तेरी मायिक धरोहर काम न देगी। तूने अपने कुटुम्ब, माता, पिता, लड़का (स्त्री, धन) व नौकर आदिका भरोसा हृदयमें धरोहर की तरह रखा है। वह तुझे उस समय (मृत्युसमय)काम न देगा। तू इस बातको अच्छी तरह समझ ले।

वहाँ श्रीसीतारामजीके बिना तेरी कोई रक्षा न कर सकेगा। क्योंकि उस दिन तेरा उक्त कुटुम्ब व वैभवादि यमदूतों

द्वारा छीन लिया जायेगा और इस तरहसे तेरा उनसे वियोग हो जायेगा। उस दिन तुझे केवल भगवन्नामकी ही सहायता यमदूतों व नरकादिकके कष्टोंसे बचायेगी।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव ! तुझे ऐसा सब समझ-सोचकर कि समय पर श्रीरामनाम ही सहायता करता है व करेगा, सबका सभी प्रकारसे भरोसा त्यागकर केवल मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीसीतारामजी का बड़ी दृढ़तासे भरोसा रखकर उन्हींके चरणारविन्दों की खूब मन लगाकर, सेवा करनी चाहिए।

टिप्पणी—अग्र आसरो आन तजि रामचरण दृढ़ सीव—जीव जब समस्त आसरोंको त्यागकर केवल भगवानके ही भरोसे रहकर उनकी दृढ़तासे भक्ति करता है तभी वह भगवत्-प्रिय होकर अपने यथार्थस्वरूपको प्राप्त होता है और तभी भगवान उसकी इच्छाको देखते रहते हैं। क्योंकि निजस्वरूपको प्राप्त होते ही वह अनीह हो जाते हैं। किन्तु भगवान तो बड़े कौतुकी हैं। उनको चैन थोड़े पड़ सकता है। उसकी पूर्व की इच्छायें पूरी किया करते हैं।

केवल उनको ये अच्छा नहीं लगता कि उनका भक्त किसी दूसरे की आशा रखे। देखिये—

मोर दास कहाय नर आसा। करइ तो कहहुँ कहा विश्वासा॥

उनको प्रिय क्या है सो देखिये— (श्रीगोस्वामीजी)

सबकी ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बांध बरि डोरी।
समदर्शी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं।
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे।

(श्रीगोस्वामीजी)

इतना ही नहीं उसके तो आप पीछे-पीछे फिरते हैं—

मोते प्रीत लगाय जो प्राणी करे और की आशा।
कोटिन विनय करें ते प्राणी मैं न जाउँ तिन पासा॥
जो निज मन समेट सब थल से बांधे मम पद प्रीती।
ताके साथ दास हो डोलों अस हमार है रीती॥

(श्रीरामप्रधानजी, रामकलेवासे)

बैठी रांक बजार में तेहि को सुने पुकार।
तेहि को सुने पुकार दुबर को खीर न रांधो।
फूटे मुक्तामणी ताहि कोधौं शुठि साधो।
नांगी कहा निचोय मरे बिजली के मारे।
हरि दासन सौं द्रोह करे तेहिको को तारे।
दीन दादि गज दूर ते 'अग्र' स्याम श्रुति धार।
बैठी रांक बजार में तेहि को सुने पुकार॥३६॥

शब्दार्थ—रांक=गरीब, दरिद्रनी, निर्धन। दुबर=दुबला कमजोर, सब प्रकार ही। कौधौं=किसने। रांधो=बनाना। नांगी=वस्त्ररहित। दादि=सहायता, रक्षा कृपा। श्रुति=शास्त्र पुराणादि, काल। खीर=तस्मै, एक मीठा खाद्य-पदार्थ। साधो=बनाया, तैयार किया।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि—जैसे कोई दरिद्रनी बाजारमें बैठकर कोई वस्तु लेना चाहे तो उसकी कौन सुनेगा, सब प्रकार से दीन-दुःखी जीवको कौन प्रेमसे तस्मै बनाकर खिलायेगा फूटे मोतीमणिको कौन सुन्दर बनायेगा, जिसके पास पहिनने तकको कुछ नहीं है वह क्या निचोड़ेगा, जिसके ऊपर

गाज गिरे उसे कौन बचायेगा व भगवद् भक्तोंसे ईर्षा, द्वेष रखने वालेको कौन मुक्ति देगा।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही जीवरूपी रङ्कको संसाररूपी बाजारमें बिना सुकृतरूपी धनके कौन पूछने वाला है। कमजोर यानी सब प्रकारसे दीन-दु:खी जीवको सुकृतरूपी स्वास्थ्य धनके बिना बढ़िया पदार्थरूपी तस्मै बनाकर कौन खिलाने वाला है। फूटे मुक्तामणिरूपी कर्त्तव्यच्युत भ्रष्ट जीवको संसाररूपी बाजारमें सौभाग्यरूपी जौहरी बिना, कौन उसे सुन्दर बनाकर उपयोगमें लाने वाला है। इसीतरह नाना-उपदेशोंको सुनकर उसके अनुसार न चलने वाला नङ्गाजीव सुकृत सौभाग्यरूपी वस्त्रके बिना संसार-सागरमें गोते लगाकर क्या निचोड़ेगा। मायारूपी बिजली से मरने वाले पापी कुमार्गी जीवको बिना सुकृतके कौन बचाने वाला है। व स्वयं भगवान या भगवानके सेवकोंसे डाह करने वाले जीवको संसाररूपी-बन्धनसे कौन मुक्त करने वाला है। कोई नहीं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि उक्त दृष्टान्तों व दार्ष्टान्तोंसे स्पष्ट है कि संसारमें दरिद्र, दु:खी, कर्त्तव्यच्युत, भ्रष्ट, निर्धन, मायासे जकड़े हुए पापी व भगवत्-भागवत द्रोही, जीवोंको उनके कष्टानुसार सहायता कर उनको सर्वसुखी बनाने वाला श्रीभगवानके सिवाय और कोई दूसरा नहीं है। जो दीनबन्धु आरतिहरण, पतितपावन, अशरण शरणादि नामोंको अक्षरश: सार्थक करने वाले, दीनों की बारीकीसे बारीक आवाजको दूरसे दूर स्थानसे श्रवण करने वाले हैं। अर्थात् आप ऐसेही कर्ण धारण करने वाले हैं कि अश्रवणीय सच्चे आर्त अन्तरनादको भी जल्दी से जल्दी सुन लेते हैं। आर्तपुकार की तो बात ही क्या है।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—इसके प्रमाणमें श्रीस्वामीजी ग्राह और गजकी पौराणिक कथाकी ओर ध्यान दिलाते, यह भाव कहते हैं, कि कोई भी प्राणी चाहे वह किसी भी योनिमें उत्पन्न, किसी भी अवस्था स्थानका हो किन्तु उसको सच्चे भावसे आर्त होकर स्मरण-भर करनेकी आवश्यकता है कि उसकी टेर सुननेमें देर नहीं। श्रीगजके स्मरणमात्रसे ही भगवानने गजको बचाकर ग्राहका बध किया और दोनोंको मुक्तकर, गजको अकथनीय आनन्द दिया।

जब पशु-योनियों वालोंके ऐसे-ऐसे प्रमाण मिलते हैं तो मनुष्यकी तो बात ही क्या है। दूसरे यह भी दिखलाते हैं कि हे जीव! तुम भी तो गजकी तरह कालरूपी ग्राहसे ग्रसे हुए हो। क्यों नहीं तुम अपनी सच्ची दर्द-भरी पुकारसे श्रीभगवानको पुकारते हो? वह तुम्हारे आर्तनादको फौरनसे पेश्तर सुन लेंगे। किन्तु जब तक तुम्हें अपने किसी बलका किंचित् भी भरोसा रहेगा तब तक वह तुम्हारे चिल्लाने पर भी तुम्हारी जरा भी सहायता न कर सकेगा क्योंकि उनका ऐसाही नियम है।

जब तक तुम अपने समस्त भरोसे त्यागकर केवल सच्चे भावसे निश्छल हो उन्हें गजकी तरह न पुकारोगे तब तक तुम इस कालरूपी ग्राहके फन्दसे नहीं निकल सकते हो। तुम्हारा तो सभी प्रकार उन्हींके सच्चे-स्मरणसे ही बन सकेगा। अन्यथा नहीं।

साथ ही इस उक्त दृष्टान्तसे यह भी भाव स्पष्ट है चाहे कितनी ही काष्टाके साथ जीवन-भर तपस्या करके भगवत्-भजन करे, किन्तु वह एक क्षणके सच्चे आर्तस्वरसे

भगवन्नाम पुकारने के बराबर नहीं। इस बातको सभी सद्ग्रन्थ कहते हैं।

बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥

आभीर यमन किरात खश श्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते॥

(श्रीगोस्वामीजी)

अतः जीव पर ऐसी कृपा करने वाले सिवाय श्रीश्यामसुन्दर भगवान श्रीसीतारामजीके, जो उक्त प्रकारके अन्तरनादको सपद सुनने वाले श्रवण रखते हैं, और कोई दूसरा नहीं।

टिप्पणी—रांक=रङ्क, यह रङ्क शब्दसे श्रीस्वामीजीने जीवकी यथार्थ दशाका स्पष्टभाव प्रदर्शन किया है। क्योंकि इस संसारमें जीव सब प्रकारसे हीन रङ्क शब्दको पूर्णतया सार्थक करता है। जिसको सर्वप्रकारसे प्रबल एवं पूर्ण बनाने वाला एक सबसे परे राजा ईश्वर ही हैं। इसकी प्रसन्नतासे यह उक्तपद प्राप्त कर सकता है अन्यथा नहीं। इसका इसी तरह सम्बन्ध है जैसे जीव ईशका। जिस प्रकार जीव अपने व ईश्वरके बीचका अन्तर समझकर अपने सम्बन्ध द्वारा ही अपने ईश्वरको प्राप्त हो जाता है ठीक इसी प्रकार जब यह रङ्करूपी जीव अपने राजारूपी स्वामीको समझकर सम्बन्ध स्थापित कर लेता है तब यह रङ्कसे राव ही हो जाता है।

पांचे बीते पख गये मावस बीते मास।
मावस बीते मास बरस बारह लरिकाई।
तरुणि विषय भव अंध निशा सब सोइ गवाँई।

दारु आर्वल जन्तु काल करवन जिमि कट्टे ।
श्वास-श्वास तन छीन घरी घरिया बरहट्टे ।
हरि बिन हारो जनम नर तजो 'अग्र' तेहि पास ।
पांचे बीते पख गये मावस बीते मास ।।४०।।

शब्दार्थ—पख=पखवारा । मावस=अमावस्या । तरुणि=स्त्री । दारु=लकड़ी । आर्वल=आयु, उम्र । जन्तु=कीड़ा । करवन=कठकोला, काष्टको भेदन करने वाला एक कीट विशेष । घरिया=मिट्टीका एक बर्तन । रहट्टे=रँहट की, चरखी की, कुएँसे पानी निकालने वाली एक देशीकल ।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे पंचमी व्यतीत हो जाने पर पखवारा शीघ्र ही निकल जाता है । व अमावस्या निकलते ही महीना शीघ्र निकल जाता हुआ व्यतीत होता है । देखा जाय तो पखवारा १५ ही दिनका व महीना ३० ही दिनका नियमानुसार हुआ करता है किन्तु पंचमीके बाद पखवारा व अमावस्याके बाद महीना जल्दी ही निकल गया मालूम पड़ता है ।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही जन्म पाकर इस जीवके बारह वर्ष लड़कपनके योंही खेलते-कूदते ही व्यतीत हो जाते हैं यदि विचार किया जावे तो बारह वर्ष थोड़े नहीं होते किन्तु ये तो अज्ञान अवस्थामें ही निकल जाते हैं । जो मालूम ही नहीं पड़ते कि ये दिन कैसे इतनी जल्दी व्यतीत हो गये ।

इस उक्त अज्ञान अवस्थाके कारण जीवकी इस समय बुद्धि भी इतनी नहीं होती कि वह विचारकर सके कि हम कौन, कहाँ, किसलिए यहाँ आये हैं ? कहाँ जायेंगे ? हमारा

मुख्यकर्त्तव्य क्या है आदि। साथ ही इस लड़कपनके बाद ही फौरन यौवनावस्थाका प्रारम्भ हो जाता है। जिस अवस्थाकी ये स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि जीव इस समय स्वतः विषयोंकी ओर आकर्षित हुआ करता है। बस इस अवस्थामें आते ही पंचविषय (जीवको) धर दबाते हैं। जिसके कारण ये इन पंचविषयोंसे अन्धा होकर (ज्ञान-वैराग्य नेत्ररहित) विशेषकर नारीके वशीभूत हो इस यौवनावस्थाको भी योंही बिता देता है। साथ ही शेषावस्था, यौवनावस्थाके फलस्वरूप पुत्र-पुत्री आदि कुटुम्बी चक्करमें फँसकर व्यतीत कर देता है। यानी जीवनको योंही खो देता है।

इसे ये नहीं मालूम पड़ता है कि मेरे इस जीवनरूपी लकड़ी को कालरूपी कठकोला जन्तु भीतर-भीतर ही कोल कर अर्थात् काट-काटकर नष्ट कर रहा है। और इस तरह श्वास प्रति श्वास जीवन घटकर खतम हो रहा है।

अन्तमें मृत्यु समय, जीवको अपने इस तरह व्यर्थव्यय किये हुए जीवन पर पश्चात्ताप होता है। लेकिन इस समय इस पछतानेसे क्या होता है। उसे अपने कर्मोंके भोगके लिए फिर ८४लाख योनियोंमें पड़कर भवकूपमें रहँट की घरियों की तरह आवागमनके चक्करमें, अनेकों घोर-कष्ट सहने पड़ते हैं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव! उपरोक्तानुसार तू क्यों मायाके जालमें उलझकर जानबूझके आवागमनके कष्ट सहनेका प्रयत्न करता है तू भगवानकी भक्तिकर उनकी शरण हो। क्यों नहीं इस दुःखसे छूट जाता? तू! इसीसे न हार जाता है कि अपने समस्त दुःखहारी भगवानसे अलग रहता है।

अतः तुझे अपने भगवानको प्राप्तकर व्यर्थ जीवन खोनेके बजाय सफल बनाना चाहिए। अथवा—

श्रीस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव ! उक्तानुसार जीवन नष्ट कर दुःख उठाने वाले भगवत्-विमुख जीवसे तुझे अलग ही रहना चाहिए। उनके निकट रहनेसे भलाई नहीं। कहनेका मतलब यह है कि मनुष्यको सज्जन भगवत्-प्रेमीका ही सत्संग करना चाहिए और उन्हींसे व्यवहार भी करना उचित है—

टिप्पणी—तरुणि विषय भव अन्ध—नारीके विषयमें अन्धा हुआ अथवा युवावस्थाके पंचविषय(शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) से अन्धा (ज्ञान-वैराग्य नेत्ररहित) हुआ।

युवावस्थाके पंचविषय—जब तरुण अवस्था आती है। यह जीवकी एक सम्पन्नावस्था होनेके कारण उसे सभी ओर सावन का हरा दिखाई पड़ता है। इसे गदा-पच्चीसी भी कहते हैं। इस समय जीव स्वाभाविकही मायामय पंचविषयोंकी ओर लालायित हो आकर्षित होता है—

वह अच्छे-अच्छे नाटक, तमाशे, सिनेमा, सुन्दर-सुन्दररूप इमारतें, शहर, नदी, तालाब, बापी कूपादि प्राकृतिक अथवा कृत्रिम दृश्यों आदिको नेत्रोंसे देखकर भी इन्हींकी छटा पर मोहित हो प्रकृति-सौन्दर्य पर सदैव लालायित रहता है और इन्हींकी उपासना करता हुआ अपना अमूल्य-समय व्यतीत करता है। साथ ही कभी भी इनसे तृप्त नहीं होता।

इसी तरह अच्छे-अच्छे स्वरीले स्वरमय शब्द गान-तान शब्द व्याख्यान, किस्सा, कहानी तथा और भी अनेकों प्रकारके मनोहारी शब्दोंको सुन-सुनकर नहीं अघाता। सदैव कर्णसे उनके सुननेके लिए ही व्यग्र रहता हुआ अपने जीवनका अमूल्य समय इसीमें व्यतीत कर देता है।

वह अनेकों प्रकारके षट्‌रसमय व्यंजनोंका रस लेता हुआ भी उन्हींके लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है और अनेकों स्वाद लेते हुए अपनेको धन्य समझता है। कभी भी इससे उसको विरक्ति नहीं होती। जीभ सतत् रसास्वादनार्थ लपलपाती ही रहती है। और जीवनका अधिकांश समय इसीमें व्यतीत करता है।

यही हाल नासिकाका भी है। वह नासिकासे (गन्ध) अच्छे-अच्छे इत्र-सुगन्धादि पुष्पोंकी गन्ध लेते हुए भी यही चाहता है कि मेरी नाकको छोड़ ये कहीं न जायें और इसके लिए भी अपना पर्याप्त समय देता है।

इन सबके अतिरिक्त पांचवा विषय त्वचाका है (स्पर्श) वह अपनी त्वचासे बढ़िया-बढ़िया कोमल वस्तुओंका स्पर्श करना चाहता है—सुन्दर तथा वेष कीमती कोमल वस्त्राभूषण, सुन्दर-सुन्दर सुखदायक सवारियों तथा लोकोत्तर सुन्दरियोंके भोगोपभोगके लिए तो निरन्तर फट-फटाता ही है। इसके आगे तो उसे सुखकी कल्पना तक नहीं होती। शेष-समय तो इसीमें ही व्यतीत करता रहता है।

इस तरह यौवन-मद-मदोन्मत्त ये जीव विषयांध हो अपनी इस दूसरी अवस्थाको पहली अवस्था (लड़कपन) की तरह ही अज्ञानके वश योंही व्यतीत करता हुआ निकाल देता है।

वह इसे 'चार दिना की चांदनी' वाली कहावतके अनुसार नहीं समझता किन्तु जब इस निष्कर्ष पर पहुँचता है तो पछता-पछताकर रह जाता है उस समय इसकी वेदना यही जानता है। जो इस उक्त-जीवनका प्रत्यक्षफल है।

जीवको उक्त पांचों–विषयोंमें से स्त्री पर ज्यादा आसक्ति रहती है क्योंकि वह एक स्त्रीमें ही पांचों-विषयोंका समावेश पाता है अतः सृष्टिमें एक यही सबसे अधिक आकर्षक है। इसके रङ्गमें रङ्गकर ही जीव अपने कर्त्तव्यपथसे विचलित हो जाता है। जीवकी लगभग सारी-यौवनावस्था तथा बुढ़ापा यहीं स्वाहा होता है। यहीं जीवन पर खेलकर मनुष्य सुख-शान्तिकी केवल आशा पर अपना अपनत्व न्यौछावर कर कोरा होता है।

पहले तो यहाँ यह असीम आनन्दका अनुभव करता है किन्तु जब शक्तिक्षीण हो जाती है तथा प्रयत्न करने पर भी जब वह अपनेको पूर्ववत् नहीं पाता। तब पछता-पछताकर रह जाता है। क्योंकि—

अली गज मीन मृग सलभी विषय इक इक ये मरते हैं।
नतीजा क्यों न पावें जो विषय पांचो को कहते हैं॥

(नरसिंहपुर वाले महात्मा मौनीजी)

काम क्रोध लोभादि मम प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह मँह अति दारुण दुखद, मायारूपी नारि॥
अवगुण मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि॥

(श्रीगोस्वामीजी)

इतना होते हुए भी वह उसका सर्वथा त्याग नहीं करता बल्कि अपने किये की सम्हारमें शेष-जीवन अर्थात् बुढ़ापा की भी वहीं इति श्री कर देता है। अन्धे कहनेका भाव यही है कि इतना समझते हुए भी आगे न देखते हुए प्रारम्भसे अन्त तक विषयोंकी ओर ही बढ़ता जाता है।

और इस तरह अपनी जीवननिशाको सोकर ही गवाँ देता है। अर्थात् मायाके चक्करमें फँसे कुछ नहीं कर पाता, जिसके लिए ये नर-तन प्राप्त हुआ था।

शशा अंधेरी छोड़ दे हरिभज लाहो लेह।
हरिभज लाहो लेह देय जनि प्रभु सों डोरी।
जम जालिम है घोर मूढ़ पैठि है पबेरी।
नर-तन दुर्लभ पाव चेत चाल्यो जो भाई।
भूलो यमपुर जाय समुझ ध्रुव लोक बसाई।
'अग्र' आलकस जनि करो दुर्लभ मानुष देह।
शशा अंधेरी छोड़ दे हरिभज लाहो लेह ॥४१॥

शब्दार्थ—शशा=खरगोश। डोरी=रस्सी, नाना, लगाव। ध्रुव=अविचल, निश्चय। पैठि है=अन्दर चले आते हैं। पबेरी=फेंकना मुक्का मारकर निकालना। हरि=सिंह, भगवान।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी यहाँ शशकका दृष्टान्त देकर जीवको ईश्वरके प्रति अपने कर्त्तव्य पूरा करनेका उपदेश करते हैं। जैसे शशकके प्रति—

हे शशा! अन्धकार (ऊबड़-खाबड़ झाड़-झंकाड़ाओंके बिलों यानी उसके रहनेके स्थानका अन्धकार) छोड़ अपने मुख्य-कर्त्तव्य को समझकर सिंहकी सेवाकर, उसका लाभ ले। और इस तरह अन्धेरेको छोड़ उजालेमें आकर अपने मालिकसे सम्बन्ध स्थिर कर अर्थात् अपने मालिकसे अपना लगाव मत तोड़। मूर्ख! नहीं तो दुष्ट शिकारी तेरे यहाँ घुसकर तुझे मारकर निकाल देंगे।

वैसेही जीवके प्रति—हे जीव ! अज्ञान (माया) अन्धकार को त्याग अपना कर्त्तव्य समझ श्रीभगवानका भजनकर और इसका लाभ ले। इस तरह मायाको छोड़ भक्ति-ज्ञानके उजालेमें आकर अपने मालिक श्रीभगवानसे अपना नाता अथवा लगाव न तोड़ दे। नहीं तो मूर्ख ! कालदुष्ट तुझे धक्का मार-मारकर निकाल देगा।

इसी तरह हे भाई ! जो जीव इस दुर्लभ मनुष्य-देहको प्राप्त करके बड़ी सावधानीपूर्वक अपने कर्त्तव्यको पूरा करता है। और भगवानसे उनकी भक्ति कर अपना सम्बन्ध स्थाई रखता हुआ संसारमें सचेत हो अपना जीवन व्यतीत करता है। वह निःसन्देह मरने पर अचललोकमें बास करता है।

और यदि भगवत्भक्ति करना भूल गया यानी किसी कारण वश न कर सका, केवल मायाजालमें ही अटका रहा, तो तुझे नरक जाना पड़ेगा।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव ! ये नर-शरीर मिलना बहुत कठिन है अतः ऐसे मौके पर आलस करनेका काम नहीं। समय चूकने पर वह वापिस फिर नहीं मिलता। अभी मौका है। खरगोशकी तरह अन्धेरी छोड़कर अपने मालिक की सेवा करो। और अपने जीवनको सफल बनाते हुए नर-शरीर प्राप्त होनेका लाभ ले लो।

जगत सीतला डोलियां नहिं काहू सो नेम।
नहिं काहू सो नेम देव तेतीस मनावै।
तिनके फल नश्वरहि हाथ कछुवै नहिं आवै।
जामे अन्तरभूत सकल देवन को देवा।

सोइ ईश्वर भगवान तजो नहिं केवल भेवा।
'अग्र' अनन गति मूलतरु सींचो सब सुख क्षेम।
जगत सीतला डोलियाँ नहिं काहू सो नेम ।।४२।।

शब्दार्थ—सीतला=नम्र, शान्तिके साथ। डोलियां=घूमना, विचरना । अन्तरभूत=मध्यमें, अन्दर । भेवा=भेद । मूल=जड़ ।

भावार्थ—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि संसारमें शान्तिपूर्वक निर्लेप अवस्थाके न किसीसे ज्यादा प्रेम न किसीसे शत्रुता बल्कि समभावसे विचरना चाहिए। और न तेतीस देवताओंको मनाते फिरना चाहिए क्योंकि इन सबकी सेवासे स्वर्गादिक सुखकी ही प्राप्ति हो सकती है। जो सब नाशवान हैं। कुछ समयके बाद ये समस्त सुख समाप्त होकर, फिर यहीं कर्मक्षेत्रमें आकर उन्हीं सुखोंके लिए प्रयत्न करना पड़ता है इस तरह फिर आवागमनके चक्करमें पड़ कष्ट सहने पड़ते हैं।

अतः इन सब देवताओंकी सेवासे भी जीवको यथार्थ सुख-शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती है और न इस तरह कुछ हाथ ही लगता है क्योंकि ये समस्त सुख मायामय हैं।

इससे सब देवताओंका देवता, जिसमें समस्त देवता निवास करते हैं अथवा जो समस्त देवताओंमें निवास करता है। हे जीव ! ऐसे परात्पर देव श्रीसीतारामजी जो समस्त ऐश्वर्य व माधुर्यपूर्ण हैं। समस्त भेदभावोंको त्यागकर अनन्यभावसे उनको ही क्यों नहीं भजता है ?

श्रीस्वामी अग्रदासजी महाराज कहते हैं कि जिस प्रकार

पेड़की जड़में सींचनेसे सारा-पेड़ हरा-भरा रहता है। उसी प्रकार केवल अनन्यभावसे उन परमप्रभुका भजन करनेसे सम्पूर्ण प्रकार की यथार्थ अक्षय कुशलता व सुख-शान्ति की प्राप्ति होती है। साथ ही जिस प्रकार संसारमें निर्लेपवृत्तिसे शान्तिपूर्वक विचरने में आनन्द मिलता है।

टिप्पणी—देव तेतीस—इन तेतीस देवताओंकी गणना इस प्रकार है। ८ वसु हैं, १२ सूर्य हैं, ११ रुद्र हैं, और २ अश्वनी कुमार हैं। ८+१२+११+१=३३, यही कुल ३३ देवता होते हैं।

नकटी प्यादो चूनरी कबहूँ नहिं तेहि चैन।
कबहूँ नहिं तेहि चैन दुहुन भाँतिन दुख पावै।
घरके सोषत रुधिर बहिर गत मान गवाँवै।
जीवत जग उपहास मरे परलोक बिगारो।
भयो भाँडको दूत अज्ञ फूटी चख चारो।
'अग्र' ते अंध बीचहि थके किय न रामपद ऐन।
नकटी प्यादो चूनरी कबहूँ नहिं तेहि चैन॥४३॥

शब्दार्थ—नकटी=बिना नाक की अथवा कटी हुई नाक वाली, निर्लज्ज। प्यादो=सिपाही, पहिना दो (मारवाड़ीमें)। चूनरी=वस्त्र विशेष। उपहास=हँसी, दिल्लगी।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे स्त्रीको उपहासके, प्यादेको सदैव चलनेकी प्रेरणासे, और चूनरीको सदा शरीरकी रगड़ वगैरहके दुःखसे कभी चैन नहीं मिलता है चाहे वह घरमें चाहे बाहर कहीं भी हो दोनों जगह दुःख ही होता है। सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होती।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही हरिभक्ति बिना ये जीवात्मा भी नकटी स्त्रीके समान है जैसे नकटी-स्त्रीको कोई भी सिंगार शोभा-सुख नहीं देता वह घर व बाहर उपहासकी ही पात्र होती है। उसे कोई अच्छा नहीं कहता न समझता है। जिससे उसे दोनों जगह दुःख ही दुःख होता है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही हरिभक्ति बिना जीवात्माको कोई भी साधन शोभा-सुख देने वाले नहीं होते क्योंकि वे सब निष्फल हो जाते हैं। जिससे वह सबके लिए उपहासका पात्र हो जाता है। दूसरे भक्ति न होनेसे साधकको माया आ दबाती है, जिसमें पड़कर जीवका लोक-परलोक सब बिगड़ जाता है। इससे वह दोनों जगह दुःखका ही भागी होता है।

दृष्टान्त—हरिभक्तिरहित जीवात्मा प्यादेके समान है—

क्योंकि प्यादा नौकरीके वशीभूत हो मालिककी आज्ञानुसार ही चलता है (जैसा वह नचावै नाचता है। साथ ही उसे मालिक द्वारा सदैव कामोंकी प्रेरणा लगी ही रहती है।

जिसके कारण वह न घरमें ही स्थाई रह सकता है न बाहर ही निश्चिन्त ठहर सकता है। इस तरह वह कहीं भी चैन न पाकर दोनों जगह दुःखी ही रहता है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही यह जीव मायावश होकर इसीकी प्रेरणासे सांसारिक भ्रमोंमें भटकता हुआ। अन्तमें कालका कलेवा होकर अनन्त-कष्ट उठाता है। कहनेका मतलब यह है कि माया चक्रमें फँस दुःख तो यहाँ पाता ही है दूसरे अगले-जन्म अथवा परलोकके लिए कुछ कर भी न पानेसे दोनों-लोक बिगाड़ लेता है।

दृष्टांत—हरिभक्ति बिना जीवात्माका शरीर केवल चूनरी की तरह है—

क्योंकि जैसे चूनरीको कभी भी अवकाश नहीं मिलता जो पहिने उसीके रगड़े सहने पड़ते हैं और जब तक यह अच्छी दशामें रहती है तब तक तो रगड़े सहती ही है। बादमें खराब होने पर कोई नहीं पूछता फेंक दी जाती है जिससे यह नाना प्रकारकी दुर्दशायें भोगकर मिट्टीमें ही मिल जाती है। साथही यदि ये भगवानको अर्पणकर प्रसादरूपमें पहिनी जाती है तो एक तो बड़े-भावसे बरती जाती है और खराब हो जाने पर वैसे ही नहीं फेंक दी जाती बल्कि पवित्र स्थानमें गङ्गाजी वगैरहमें बड़े-प्रेम व श्रद्धासे सिराई जाती हैं। जिससे उसका जीवन सुखमय होता है व सुधर जाता है। अर्थात् दोनों तरहसे उसका उपयोग भली प्रकारसे ही होता है। जीते-जी (लोकमें) और कपड़ोंसे ज्यादा महत्व पाती है। और जीवान्तर अच्छा स्थान पाती है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही इस शरीरको सांसारिक अनेकों कष्ट सहने पड़ते हैं और अन्तमें किसी न किसी प्रकार मिट्टीमें ही मिलना पड़ता है। यह तो हर तरहसे होगा चाहे कोई कितना ही यतन करे क्योंकि इसका स्थिर रहना सम्भव ही नहीं। किन्तु यदि यह पंच-संस्कारयुक्त श्रीसीतारामजीके चरण-शरणकर दिया जाय तो इसका जीवन-सफल हो जाता है। लोक-परलोक दोनों सुधर जाते हैं। भक्तिके कारण मायाजन्य चोटें-चरपेटें नहीं व्यापती, साथ ही अगला-जन्म भी भक्ति द्वारा सुधर जाता है। क्योंकि—

भगति करत बिन यतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥

(श्रीगोस्वामीजी)

इस प्रकार उक्त तीनों दृष्टान्तोंकी भाँति—इस जीवको हरिभक्तिके बिना अत्यन्त कष्ट झेलने पड़ते हैं। किसी प्रकार विश्राम व सुख नहीं प्राप्त होता है। क्योंकि—

श्रुति पुराण सद्ग्रन्थ कहाहीं। रघुपति भक्ति बिना सुख नाहीं॥
(श्रीगोस्वामीजी)

क्योंकि बिना इसके माया इसे अपनी ओर खींचकर अपना गुलाम बना लेती है। भक्तिके कारण मायाका वश नहीं चलता। देखिये—

मोह न नारि नारि के रूपा। (श्रीगोस्वामीजी)

नहीं तो इस दुष्टमाया की प्रेरणासे जीवकी अकल ठिकाने लग जाती है। इसीकी मोहिनी-कालमें फँसकर यह कुटुम्ब, कबीले की सृष्टि करता है और उन्हींके लिए फिर हाय-हाय करता हुआ अपना सारा-खून सुखाता फिरता है। इस तरह अपने जीवनके मूल्य पर ही उनकी सम्हार करता है। यानी उनकी इच्छापूर्तिके लिए अनेकों घोर कष्ट उठाकर द्रव्योपार्जन करता है। उनको सन्तोषित करनेमें इसको सिरका पसीना ऐड़ी तक लाना पड़ता है। इतनेसे भी पूरा न पड़ने पर कर्जा लेकर शक्ति-भर उनकी इच्छापूर्ति करता है। जिसको समय पर न चुका पानेसे अपमानित हो-होकर उपहासका पात्र बनता है।

इस तरह ये इसके चक्रमें फँसकर सारा-जीवन इसीकी निवृत्तिमें व्यतीत कर देता है। जिससे ये तो ये, भावी-जीवन भी बिगाड़ देता है। इस समय इसकी दशा भांडके दूत जैसी हो जाती है। दूत भी बना तो भांडोंका। जब उसके मालिककी ये दशा है तो दूतकी तो राम ही जाने। अस्तु जैसे वह भांडका दूत अतिदैन्य अवस्थामें मारा-मारा फिरता है वही दशा इस जीवकी हो जाती है। काम, क्रोध, लोभ, मोहवश संसारमें तो मारा

मारा फिरता ही है मरणान्तर भी कोई नहीं पूछता, ८४ लाख योनियोंमें वे धनीधोरीकी तरह कष्ट पाता हुआ फिरता रहता है।

अज्ञानके वशीभूत हो जानेके कारण इसके भीतर नेत्र (ज्ञान-वैराग्यके) न खुल सके। साथही मायाकी प्रखर-प्रतिभा ने इसके चर्मचक्षु भी चकाचौंधित कर इसे अन्धा बना दिया। इस तरह यह चारों आंखोंसे अन्धा हो गया। जिसके फलस्वरूप यह अपनी यात्रा आनन्दपूर्वक न कर सका और न भावी-जीवन को सुखप्रद बनानेका कोई प्रयत्न कर सका। यानी दोनों लोक बिगाड़कर रह गया।

श्रीस्वामीजी कहते हैं कि उपरोक्तानुसार अपने जीवनमें श्रीसीतारामजीका भजन-स्मरणकर उनके चरण-कमलोंमें अपना निवास स्थान न कर सकने वाले अज्ञानान्ध जीव अपनी संसार यात्राके बीच ही थककर रह जाते हैं और संसारमें ही पड़े रहते हैं। अर्थात् मोक्ष न प्राप्त कर ८४ लाख योनियोंकी ही हवा खाते रहते हैं जिनकी दशा ठीक, नकटी, प्यादो व चूनरीकी तरह होती है।

टिप्पणी—प्यादो ! मारवाड़ी बोलीमें प्यादो पहिनानेका भी बोधक होता है। अतः यदि इस शब्दका अर्थ पहिनानेमें लेते हैं तो इस कुण्डलियाका भावार्थ निम्नलिखित होगा।

(दाष्टान्त)—जैसे नकटी स्त्रीको बढ़िया चूनरी पहिनाई जावे तो भी उसे सुख नहीं मिल सकता।

(दाष्टान्त)—वैसे ही भक्तिरूपी नाकरहित जीवात्मारूपी नकटी स्त्रीको नाना-प्रकारके सांसारिक सुखरूपी चूनरी पहिना दी जावे तो उसे वह सुखशान्ति प्राप्त नहीं हो सकती क्योंकि काम, क्रोधादि तो इस शरीररूपी घरमें रहते हैं वे अपना मतलब साधते हुए अनेकों कष्ट देकर जीवका खून सोखते हैं और

यही बाहर निन्दा भी करवाते हैं कि अमुक व्यक्ति बड़ा लोभी क्रोधी व कामी है। इस तरह ये जीते-जी कष्ट देते हुए निन्दा भी करवाते हैं, मरणान्तर इस उपहासके साथ यहाँ कुछ भी भगवान के लिए न कर सकनेके कारण ८४ लक्ष योनियोंमें आवागमनादि के अनेकों कष्ट दिलवाते हैं।

इस जीवकी योंही भांडके दूत जैसी दशा होती है कि उस बेचारेको कोई टकाको भी नहीं पूछता। जब उसके मालिक की कोई पूछ नहीं तो उस बेचारेको कौन पूछेगा। इसी तरह जीवको कामादिकका चेरा समझ लोक-परलोक दोनोंमें कोई नहीं मानता।

जरा विचार करनेकी बात है कि—इस मूर्खने अपने भीतर नेत्रों (ज्ञान-वैराग्य) से यह न देखा, न विचार किया कि हमको किसका सेवक बनना चाहिए जिससे हमारी लोक-परलोक दोनोंमें पूछ हो। साथ ही इन चमड़ेकी आंखोंसे भी न देखा, न बुद्धिसे विचार किया कि 'भांडदूतवत् कुकर्मी, भगवत्-विमुख मार्गमें ले जाने वालोंके आश्रय रहकर हमारी क्या दशा होगी। इस तरह ये अज्ञानवश चारों आंखोंसे अन्धा होकर संसार-यात्रा को चल दिया।

अग्रस्वामीजी कहते हैं कि ऐसे युवा अन्धे जीव संसार-यात्रा के बीच ही, पग-पग पर ठोकरें खाते-खाते थककर रह जाते हैं। अर्थात् आवागमनमें पड़े रहते हैं।

टिप्पणी—नकटी—देखिये, क्या ही ठीक कह रहे हैं।

बुद्धि बड़ी, चतुराई बड़ी, सुख सुन्दरता तन सों लपटी है।
धर्म बड़ो, घर दाम बड़ो, करतूति बड़ी जगमें पलटी है।
राज सभा सनमान बड़ो, अरु इन्द्रहुसे कछु नाहिं घटी है।

तुलसी एक राम सनेह बिना, मानो सुन्दर नारि की नाक कटी है ।
(श्रीतुलसीदासजी)

टिप्पणी—घुवा—गटारहित अन्धा अथवा आखोंका खोखलामात्र ।

जो दिन जाय अनन्दमें जीवनको फल सोय ।
जीवनको फल सोय अनन्द निधि उरमें धारे ।
मन्त्री ज्ञान विवेक अशुभ अज्ञान निवारे ।
पदुम पत्र जिमि रहे काल सम विषय पिछाने ।
जग प्रपंच सब झूठ सत्य सीतापति जाने ।
'अग्र' अजाके स्वाद ते त्रिपित न देखो कोय ।
जो दिन जाय अनन्दमें जीवनको फल सोय ।।४४।।

शब्दार्थ—ज्ञान=बोध, जानकारी । विवेक=विचार, निर्णयात्मिका, बुद्धि । निवारे=दूर करे । पदुम पत्र=कमलका पत्ता । प्रपंच=जाल, भ्रम, विस्तार । अजा=माया, बकरा । त्रिपित=सन्तुष्ट ।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी कहते हैं—जैसे संसारी सुखानन्दमें जो दिन व्यतीत होते हैं उसे लोग जीवनका फल समझते हैं । किन्तु लौकिक-आनन्द अस्थिर तथा अन्तमें दु:खदाई होनेके कारण सच्चा-आनन्द नहीं कहा जा सकता, जो नि:सन्देह जीवनका फल हो सकता है ।

टिप्पणी—अब यह प्रश्न स्वत: उत्पन्न होता है कि तो वह आनन्द कौन-सा है ? जिसे सच्चा कहा जाय और जो जीवनकी सफलताका द्योतक हो । क्योंकि—

आनन्द—सुखको ही आनन्द कहते हैं। इस आनन्दका वर्णन तैत्तिरीयोपनिषत् 'आनन्दवल्ली' के अष्टम अनुवाकमें आया है।

सब प्रकारके सम्पूर्ण सुख-भोगने वाले एकमात्र चक्रवर्ती राजाके सुख तक मनुष्यानन्दकी सीमा है। और इस सुखसे १०० गुणा ज्यादा सुख एक अच्छे गायकको होता है। ये सुख ब्रह्मनिष्ठ को भी प्राप्त होता है और सौ उक्त गायकों की तरह देव गंधर्व का सुख होता है। ये सुख ब्रह्मनिष्ठको भी होता है। ऐसे देव-गंधर्व सुखसे १०० गुणा सुख पितरोंको होता है। ये सुख ब्रह्मनिष्ठको भी प्राप्त होता है। ऐसे पितरोंके सुखके १०० गुणा सुख एक आजान-जान देवको होता है। ये सुख ब्रह्मनिष्ठको भी प्राप्त होता है। ऐसे सौ आजान-जान देवोंके समान एक कर्म देवताको आनन्द होता है यह भी ब्रह्मनिष्ठको प्राप्त होता है। १०० कर्म देवताके आनन्द बराबर एक देवताको होता है। यह ब्रह्मनिष्ठको भी होता है।

१०० देवोंके समान १ इन्द्रको सुख होता है। यह भी ब्रह्मनिष्ठको प्राप्त होता है।

१०० इन्द्रोंके बराबर १ बृहस्पतिको सुख होता। ,, ,,
१०० बृहस्पतियों ,, १ प्रजापति ,, ,, ,, ,,
१०० प्रजापतियों ,, १ ब्रह्म ,, ,, ,, ,,

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही जितने दिन अपने आत्मस्वरूपमें स्थित श्रीआनन्दसिंधु सीतारामजीको हृदयमें धारण किये हुए यानी भजनमें व्यतीत होते हैं वही सार्थक हैं और वही जीवनका सच्चा-आनन्द है।

इस तरह जो जीव श्रीसीतारामजीको हृदय-मन्दिरमें पधराकर ज्ञान-वैराग्यरूपी हृदयनेत्रोंसे उनका सदैव दर्शन

करता है। साथ ही जो बोध और विचारको अपना मन्त्री बना अज्ञान वह अशुभ-अमंगलमय मार्गको उन्हीं द्वारा बचाता हुआ संसारमें कमलपत्रकी तरह निर्लेप अवस्थामें रहता है और जो सांसारिक क्षणिक-सुखोंको विषके समान जानता हुआ, संसारके सारे-प्रपंचको स्वप्नके समान झूठ, अनित्य व फोटक समझता है और केवल एक श्रीसीतारामजीको ही सत्य नित्य, मानकर उन्हींकी सेवामें जीवन बिताता है। वही अपने जीवनको सफल व सुखमय बनाता हुआ अपने जीवनका यथार्थ आनन्द प्राप्त करता है।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि मायाके स्वादसे आज तक किसीको सन्तोष होता नहीं देखा गया, न सुना गया है। देखिये—

बुझै न काम अग्नि तुलसी कहुं विषय भोग बहु घी ते। (विनय)

अथवा **ज्यों प्रति लाभ लोभ अधिकाई।** (श्रीगोस्वामीजी)

अतः यह मानना ही पड़ेगा कि मायासे तृप्ति असम्भव है। क्योंकि मायाके जितने भी आर्कषितरूप हैं सभीमें ९९ का फेर है अर्थात् सभीमें उत्तरोत्तर अधिक प्राप्तिकी इच्छा बनी ही रहती है। इसमें सन्तोषकी तो बात ही क्या है, इसके चित्र व नामके भी दर्शन तक होना असम्भव है।

अथवा श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे बकरीके गलेमें निकले हुए थनसे कोई संतोष प्राप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि वह तो केवल देखने मात्रका है उसमें दूधकी आशा कहाँ ? वैसेही संसारी सुख सब देखने मात्रके हैं, अन्तमें दुःखप्रद हैं। साथही क्षणभंगुर हैं। इसलिए जो जीवन अपने यथार्थस्वरूपमें स्थित श्रीसीतारामजी के भजनभावमें व्यतीत किया जाय वही जीवन सार्थक कहा जा सकता है और वही जीवन सफल है।

टिप्पणी—आनन्द निधि—आनन्दसिन्धु केवल परात्पर प्रभु श्रीसीतारामजी ही हैं। देखिये—

व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत् चेतत घन आनन्दरासी॥
जो आनन्द सिन्धु सुखरासी। सीकरसे त्रैलोक सुपासी॥

जिस आनन्दाम्बुधि की एक बूंदके कतिपय कणोंसे तीनों लोकोंके सुखकी सृष्टि हुई है उस आनन्द-सागरके सुखके लिए वाणी विचारी क्या कहनेका सामर्थ्य रख सकती है? जिसके विचारमें मन, बुद्धि, चित्त थककर रह जाते हैं। जिसे वेद भी नहीं जानते। विशेष क्या—

शारद शेष महेश विधि आगम निगम पुरान।
नेति नेति कहि जासु गुण, करहिं निरंतर गान॥

(श्रीगोस्वामीजी)

अतः उन्हीं आनन्दराशि परात्पर प्रभुको हृदयमें धारण कर सदैव उनका चिन्तवन करना चाहिए। जो सर्वप्रकारसे जीवको आनन्दमय करने वाले हैं। जिन्हें अनुभवगम्य जानकर सन्त महानुभाव निरन्तर भजते रहते हैं।

अनुभवगम्य भजहिं जेहि सन्ता। (श्रीगोस्वामीजी)

टिप्पणी—पदुम पत्र जिमि रहे—हमारे देशके अनेकों ऋषि महात्मा लोग, सृष्टिके आदिसे लेकर अब तक भी, इस बात पर विचार करते चले आ रहे हैं कि मनुष्य-जीवनको कैसे सार्थक व सुखमय बनाया जाय। इसकी खोजके सैकड़ों अनुभवोंसे प्रमाण हमारे आर्षग्रन्थोंसे लेकर आजकलकी छोटी-छोटी पुस्तकों तकमें भरे पड़े हैं। जिसके अनुसार जीवन(निर्वाह)यापन करनेसे मनुष्य जीवन सफल हो सकता है। सभी संसारको मायाजाल कहकर

इससे लाभ उठाते हुए, इससे सजग रह बचकर चलने वाला रास्ता बतलाते हैं।

श्रीस्वामीजी कहते हैं कि कमलके पत्तेकी तरह जगमें रहनेसे जीवन सफल हो सकता है। साथ ही इस तरह रहने वाला जीव उभयलोकमें सुखी बन सकता है।

जैसे कमलपत्र जलमें रहता हुआ भी जल-प्रभावरहित होता है। जल उसे डुबो नहीं सकता यहाँ तक कि भिगो तक नहीं पाता। इसी तरह मायारूपी जल पर कमलपत्रके समान निर्लेप रहने वाला जीव न मायामें डूबता है न उससे भीगता है।

माया ही सब दुःखोंकी खानि है। जिसके वशीभूत हो जीव दुःखमय बनता है। और जब उक्तानुसार मायाजालसे परे रहेगा तो इसमें सन्देह ही क्या कि उसका जीवन सुखमय होगा। क्योंकि जब जीवन सुखमय होगा तो उसे अपने कर्त्तव्यके विचारनेका भी शुभ-अवसर प्राप्त होगा और इसके फलस्वरूप वह भगवत्-भजन द्वारा जीवन सफल कर सकेगा। ऐसा करते हुए इस लोकमें तो वह आनन्दपूर्ण रहेगा ही, साथ ही आगे भी इसका फल प्राप्त कर सकेगा। संक्षेपमें दोनों-लोक बन जायेंगे।

यहाँ यह कह देना सरल है किन्तु आचरण द्वारा इसे धारण करना इतना सरल नहीं। उपाय तो बहुत ही उत्तम, प्रशंसनीय एवं आचरणीय है किन्तु इसमें फिसल जानेका बहुत ही डर है अतः साधकको चाहिए कि वह सदैव हृदयकी ओर देखता रहे। जिस प्रकार कमलपत्र अपने जलकी ओर वाले हिस्साकी कुछ भी परवाह न करके अपने भीतरी भाग यानी

आकाशकी ओर वाले हिस्सेको नहीं डूबने देता। वैसेही जीवको शरीरके ऊपरकी चिन्ता न करते हुए अपने हृदयकी चिन्ता रखनी चाहिए कि ये आकाश की तरह श्रीभगवानकी ओर ही है कहीं इसमें मायारूपी जल तो नहीं आ गया। बस इस तरह रहकर ही वह 'कमलपत्रके समान' रह सकता है। जो सदैव कल्याणकारी है—

इक द्वै द्वै अरु चूपरी पुनि लाडू दो हाथ।
पुनि लाडू दो हाथ गाथ हरिजन मिलि गावैं।
जीवत यश जग माँहि परम गति सो पुनि पावैं।
देव पितर नरलोक कोऊ बाधौ नहिं करई।
अनन भजन गुरु गहित नित्त गोविन्द अनुसरई।
'अग्र' उभय ताकी बनी है सन्तनके साथ।
इक द्वै द्वै अरु चूपरी पुनि लाडू दो हाथ ॥४५॥

शब्दार्थ—चूपरी=घीसे लिपटी हुई। गाथ=गीत, छन्द बाधौ=पीड़ा करना, दुःख देना। गुरु गहित=जिसे गुरु ग्रहण किये हुए हो व जो गुरु उपदेश देकर ग्रहण करनेको कहे, यानी गुरुप्रदत्त। उभय=दोनों। अनुसरई=मानकर चलना।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे अति क्षुधित जीवके लिए एक-एककी बजाय दो-दो रोटियां हों। और वे खूब घीमें चुपड़ी हों। साथ ही दोनों हाथमें दो-दो लड्डू भी दिये जांय तो फिर उसके आनन्दको क्या कहना अर्थात् उसकी खुशीका क्या ठिकाना ?

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही यह क्षुधित यानी अनेकों जन्मोंसे

आवागमनके असह्य कष्टोंको सहता हुआ सुखके लिए लालायित जीवको मनुष्य शरीररूपी दो-दो रोटियां मिलीं। दूसरे घीसे चुपड़ी हुई यानी मनुष्य-शरीर भारतवर्षमें मिला। तीसरे लड्डू दोनों हाथोंमें मिले यानी सत्पुरुषोंका सत्संग भी प्राप्त हुआ अथवा भजन करनेका सर्वसुविधा वाला सुअवसर प्राप्त हुआ। अब ऐसे शुभयोगका लाभ उठाकर इस जीवको हरिभजन-कीर्तन करते हुए जीवन-सफल करना चाहिए। साथ ही उक्त क्षुधितकी तरह भली प्रकार लड्डूका उपभोगकर आनन्दित होना चाहिए।

इससे उसके (जीवके) जीते-जी संसारमें उसकी कीर्ति होगी। मरणान्तर परमगति प्राप्त होकर उसका जीवन सफल होगा। क्योंकि जो अपने गुरुप्रदत्त मार्गका अनुसरणकर, नित्यप्रति बड़े प्रेमपूर्वक श्रीरामजीका भजन करता है उसको कोई भी (किसी लोकका वासी क्यों न हो) हानि नहीं पहुँचा सकता अथवा उसको कोई भी त्रितापजन्य गजबी चोट-चरपेट नहीं लग सकती।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं जो उपरोक्तानुसार भगवत्-भजन करते हुए केवल अपने गुरु-मार्ग पर ही निर्भर रहता है। उसकी सब प्रकारसे ही बन जाती हैं। उसको संसारमें सन्तसङ्गसे भी बड़ा आनन्द प्राप्त होता है, साथही परलोकमें भी सुन्दर फल पानेकी आशा रहती है। उसके दोनों हाथोंमें लड्डू रहता है।

टिप्पणी—परमगति=मुक्ति—मुक्ति चार प्रकारकी कही हैं सालोक्य, सारूप्य, कैवल्य, सामीप्य ये चारों प्रकारकी मुक्तियाँ भगवत्-भक्तको सहजमें ही प्राप्त हो जाती हैं।

राम भजत सोइ मुकुति गुसाईं। अनइच्छित आवै बरियाईं ॥
जिमि थल बिन जल रह न सकाई। कोटि भांति कोउ करे उपाई॥
तथा मोक्ष सुख सुन खगराई। रहि न सके हरिभक्ति बिहाई॥
अस विचारि हरिभक्त सयाने। मुक्ति निरादरि भक्ति लुभाने॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥

(श्रीरामचरितमानस)

अत: भक्तिके सम्मुख, मुक्ति बेचारीका क्या मूल्य, जिसे जीव शरीर रहते-रहते ही सत्संग द्वारा सहजमें ही प्राप्त कर लेता है। जिसका आनन्द प्राप्त करता हुआ जीव शरीर रहते-रहते जीवनमुक्त हो जाता है। अब बतलाइये वह भक्तिको छोड़ क्यों मुक्तिका आदर करेगा।

दूसरे बिना भक्तिके मुक्तिका ठहरना ही मुश्किल है और मुक्तिकी भक्तको परवाह नहीं रहती। इस तरह भी भक्ति उच्चकोटिकी ठहरती है। अत: अब आपही बतलाइये कि भक्त मुक्तिका निरादरके सिवा और कर ही क्या सकता है।

कहनेका सारांश ये है कि भक्तको भगवत्‌नाम-कीर्तन करते-करते ही सब मुक्तियां बिना बुलाये व बिना इच्छाके ही प्राप्त हो जाती हैं जिसे ज्ञानी सारा-जीवन नष्ट करते हुए भी बड़ी कठिनतासे प्राप्त कर सकते हैं। यदि कोई विघ्न न पड़ा, नहीं तो कई जन्म टापते ही रहते हैं। और अनेकों कष्ट सहते हैं। किन्तु भक्तिका क्या कहना हैं। अभी नाम-कीर्तन, भाव-भजन प्रारम्भ कीजिये किंचित् समयमें ही बिना किसी दूसरे उपाय व कष्टके साथही निर्विघ्न आपको मुक्तियां प्राप्त हो जायेंगी और शरीर रहते-रहते ही आप जीवनमुक्त दशामें संसारमें विचरने लगेंगे। धन्य हो भक्ति-महारानी, आपकी जय हो।

टिप्पणी—देव पितर नरलोक कोउ बाधौ नहिं करई—भगवानका भक्त समझ, न देवता, न पित्र कोई भी क्लेश नहीं देते और न दे सकते हैं फिर संसारी-जीवोंकी तो बातही क्या है।

सीवकी चाप सके कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥
जो अपराध भक्तकर करई। राम रोष पावक सो जरई॥

(श्रीगोस्वामीजी)

साथ ही जिस हृदयमें रामराज्य होगा। वहाँ भला सांसारिक त्रिताप ठहर सकता है, कदापि नहीं, अत: भक्तको किसी भी प्रकारका जरा-सा भी कष्ट पहुँचानेकी किसीकी भी हिम्मत नहीं।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज्य काहू नहिं व्यापा॥

अत: रामभक्त देखकर सभी भयभीत होते हैं साथ ही उसकी बुद्धिकी प्रशंसा करते हुए उसको धन्य मानते हैं।

ना सहदेशी रूखरा ना परदेशी लोग।
ना परदेशी लोग विमुख सन्तन धन धामै।
कूकर त्वचा कपूर बँधो उत्तम केहि कामै।
हरि दासनकी कुटी माँगि माधूकरि लावै।
भक्तनको विश्राम मिले मंगल यश गावै।
'अग्र' कहै वा ठौर पर वारी सुरपुर भोग।
ना सहदेशी रूखरा ना परदेशी लोग॥४६॥

शब्दार्थ—ना सह=ना सह (असहायी) अथवा नष्ट हो जाय। रूखरा=छोटे-छोटे वृक्ष। माधूकरी=बना-बनाया यानी

पका हुआ अन्न, भोजन। बारी=न्यौछावरि। कुटी=स्थान, झोपड़ी। विश्राम=ठहरना, आराम—

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी कहते हैं। जैसे अपने देशके छोटे-छोटे वृक्ष जो दूसरोंके काम न आवे और न परदेशी जो दूसरोंको किसी तरह मदद न दे सके। व्यर्थ है उनका नष्ट होना ही अच्छा है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही सन्त-साधुओंके कार्यमें न आने वाला धनधाम भी व्यर्थ है अथवा नष्ट ही होनेको है। क्योंकि—

सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। (श्रीगोस्वामीजी)

यह ऐसा धनधाम कुत्तेके चमड़ेमें बँधे हुए उत्तमसे उत्तम कपूरकी तरह है जो व्यर्थ ही नष्ट हुआ है। किसी दूसरेके काम का नहीं।

ऐसे धनधामसे तो बेचारे गरीब भगवत्‌भक्तोंकी फूस-फासकी कुटिया अच्छी हैं जहाँ वे मधुकरी माँगकर लाकर साधु-सेवा करते हैं। जहाँ सन्तोंको आराम मिलता है और जहाँ वे सन्त लोग भगवानका यश-कीर्तन आनन्दपूर्वक करते हुए रहते हैं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि ऐसी जगह पर हम इन्द्रपुरीका भी वैभव न्यौछावरि करते हैं। यानी इन्द्रपुरीको भी कुछ नहीं समझते हैं क्योंकि वहाँ यह सुख आनन्द कहाँ। देवता भी ऐसे स्थानमें निवास करनेको तरसते रहते हैं।

सारांश यह कि अपने स्वार्थमें लगाया हुआ धन व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है। वही दूसरोंके लिए खर्च करनेमें सुकृतका रूप धारणकर लेता है। जो इस समय शरीर रहते हुए यश और

मरणान्तर आनन्द सुखभोग प्राप्त कराता है। क्योंकि धन तो किसी तरह खर्च ही होनेको है। खाया जाय या खिलाया जाय या रखा जाय। खानेसे व्यर्थ ही क्योंकि वह तो स्वार्थमें लगाया गया। रखा जाय तो और भी खराब, न स्वयं उसका उपयोग कर सके न करा सके रखा-रखा ही मरनेके बाद किसीने ले लिया। ये भी बिल्कुल व्यर्थ हुआ। मरने पर तो सभी माया बेकार ही है। अस्तु दूसरोंके हितार्थ खर्चमें ही भलाई है जिसका सुख वही जान सकता है जो करता है। इसीसे महानुभावोंने इस विषयोंमें यह अनुभव किया—

पानी बाढ़ो नावमें घरमें बाढ़ो दाम।
दोनों हाथ उलीचिये यही सयानो काम॥

आपु आपु कहँ सब भलो अपने कहुं कोय कोय।
तुलसी सब कहँ जो भलो सुजन सराहहिं सोय॥

एवं 'परोपकाराय सतां विभूतयः' आदि सिद्धांतोंके अनुसार ही कार्य करना श्रेयकर है। अन्यथा देशी छोटे-छोटे वृक्ष व परदेशी लोग जो किसीके काम नहीं आते उसी तरह सब बेकार है, अस्तु।

जो आपुहि न सुहाय सो पर को नहिं इच्छिये।
सो पर को नहिं इच्छिये कल्याणहुँ सोई पावे।
शास्त्र वेद पुराण सन्त मुख सन्तत गावे।
विषयक कुंजर शौच पुण्य तप व्रत सब फीको।
विषयरहित हरिभजन सो तो थोरो ही नीको।
'अग्र' सयानप है यहै गुरुजनन पै सिच्छिये।
जो आपुहि न सुहाय सो पर को नहिं इच्छिये॥४७॥

शब्दार्थ—आपुहि=आपको, खुद। परको=दूसरोंको इच्छिये=इच्छा करना, विचारना। कल्याणहुँ=सुख शान्ति प्राप्त करना। विषयक विषय सम्बन्धी। कुन्जर=हाथी शौच=पवित्रता, स्नान वगैरह। सयानप=चतुरता।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जो वस्तु आपको स्वयं अच्छी न लगे उसको दूसरेको देनेकी इच्छा न करनी चाहिए। क्योंकि ऐसे देनेसे क्या लाभ है। जबकि लेने वालेका चित्त प्रसन्न न हो जाय। दानीका तो तभी न कल्याण होगा जबकि वस्तु प्राप्त होते ही लेने वाला मुदित हो जाय।

इसी बातको सभी शास्त्र, वेद, पुराण, सन्तादि अपने मुखसे सदैव कहा करते हैं कि दान वही सफल है व कल्याणप्रद है जिसे प्राप्तकर लेने वालेका चित्त प्रसन्न हो, हृदयसे सुखी हो जाय।

क्योंकि जिस प्रकार हाथीके स्नान थोड़ी ही देर बाद अपने शरीर पर धूल डाल लेनेके कारण व्यर्थ हो जाते हैं। वैसे ही विषयी-जीवके समस्त पुण्य, व्रत, तपादि फिर विषयमें प्रवृत्त होनेसे फीके पड़ जाते हैं यानी विशेष लाभप्रद नहीं होते हैं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि इसीलिए निष्काम-विषयवृत्ति रहित—थोड़ा भी भगवत्-भजन विशेष लाभप्रद है। जिसके लिए चतुर, बुद्धिमानोंका यही काम होना चाहिए कि वे श्रीसद्गुरु शरण होकर उन्हींकी आज्ञानुसार उनके बतलाये हुए मार्ग पर पूर्णतया निर्भर होकर संसारमें अपना जीवन व्यतीत करें। साथ ही सदैव उन्हीं वस्तुओंको दूसरेके हितार्थ दें जो

उनके काममें अच्छी तरह आवे। जिन्हें प्राप्त कर वे स्वयं हृदयसे प्रसन्न हो जायें—

डूंगर की कहँ देखिये पायन तर की देखि।
पायन तर की देख बात जिन करे पराई।
आन जरो कोउ बरो राखि उर जरतो भाई।
सारहि राखत सती सुनी नहिं राखत पारो।
शठ ! जरतो जग जान हृदय हरिपद पुनि धारो।
'अग्र' असद आलाप तजि हरिगुण हृदये पेखि।
डूंगर की कहँ देखिये पायन तर की देखि ॥४८॥

शब्दार्थ—डूंगर=पहाड़ी। सारहि=तत्वको। सुनी=स्वर्णकार। पारो=पारा धातु विशेष। असद=झूठ। आलाप=बातचीत। पेखि=देखकर।

भावार्थ—(दृष्टान्त)—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव ! पहाड़ पर लगी हुई अग्निको क्या देखता है। पहले जरा अपने तले लगे हुई आगको तो देख ले।

(दार्ष्टान्त)—अर्थात् हे मूढ़जीव ! दूसरोंके अवगुणोंको क्या ढूंढ-ढूंढकर निकालता है। जरा पहले अपने अवगुणोंको तो देख ले कि तेरे शरीरमें कितने भरे पड़े हैं।

अभी दूसरेके अवगुणोंकी बात मतकर। तुझे किसीसे क्या मतलब है। चाहे जो जैसा हो। हे भाई ! अभी दूसरेके जलने, बरने पर कोई विचार न करते हुए स्वयं अपने हृदयको जलाती हुई त्रितापाग्निसे अपनेको तो बचाले तब कहीं दूसरे की बात करना।

जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने पति-वियोगमें पतिके साथ ही अपना-शरीर जलाकर, प्राण-त्याग अपने पतिव्रतरूप सारको ग्रहण करती है। जैसे स्वर्णकार अपनी घरियामें सब मैलको जलाकर साररूप सोना-चाँदी वगैरह धातुयें ग्रहण करता है।

ठीक उसी प्रकार इस समस्त संसारको विषयाग्निमें जलता जानकर साररूप, श्रीभगवत्-भजन करके, श्रीभगवानके सर्वसुख प्रदाता चरण-कमलोंको ग्रहणकर, हे मूढ़! (जो बार-बार चेताने पर भी नहीं चेतता मूर्ख) अपने हृदयमें धारण कर।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि उपरोक्तानुसार संसारको सर्वथा भ्रमवत् समझ उसके विषयमें झूठी बकवाद मत कर। अपने जीवनके समयमें, अपने अवगुणोंको देख झूठका त्याग करते हुए श्रीसीतारामजीके सुन्दर गुणानुवादोंको हृदयमें धारण कर उन्हीं का भजन करते हुए उनकी कृपाबल पर पूर्ण निर्भय रहकर उन्हींकी बाट देखता रह।

टिप्पणी—पायन तरकी देखि—अपने पैरके नीचे देख यानी अपनी दशाकी ओर विचारकर कि तुझे क्या करना चाहिए, और तू क्या कर रहा है? तू स्वयं काम, क्रोधादिरूपी विषयाग्निमें जल रहा है। इसके लिए तो तू कुछ नहीं कह रहा, दूसरोंके लिए जल्दी कहनेको तैयार हो जाता है। देखिये—

अपने तलेकी आग सूझै नहीं मूरख को,
दूसरेसे कहत तेरे सिर पर बरतु है। (श्रीसुन्दरदासजी)

साथ ही तू स्वयं कालाग्निमें जल-जलकर मर रहा है और दूसरोंकी मृत्यु पर शोकादि प्रकट करता है। ज्ञात नहीं कि मैं भी तो उसी निष्कर्ष पर जा रहा हूँ। आदि अतः—

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न देखा कोय।
जब दिल खोजा आपना मुझ सा बुरा न कोय॥

(लोकोक्तिसे)

ऐसा समझ बुरेसे बुरेको भी अपनी कृपासे अच्छेसे अच्छा कर देने वाले प्रभुका स्मरण कर, ज्यादा बकवादसे क्या मतलब–

जेहि सुमरत भे 'भांग' ते 'तुलसी' तुलसीदास।

(गो० श्रीतुलसीदासजी)

टिप्पणी—सुनी नहि राखत पारो—ऐसा देखा जाता है, कि स्वर्णकार जिस समय किसी धातु पर सोना-चांदी चढ़ाना चाहता है तो वह पारेके द्वारा ही चढाया करता है। जिसमें गर्म करते ही पारा उड़ जाता है और सोना व चांदी यथारुचि चढ़ जाती है। कहनेका मतलब यह है कि स्वर्णकार भी सारग्राही है कि वह सोने-चांदीको शुद्ध करते समय भी अनेकों धातुओंको घरिया में डालकर सोने-चांदीके साथ पिघलाता है और अन्तके केवल शुद्ध सोने-चांदीको लेकर सारी-धातुओंको जला देता है। अस्तु-नतीजा=फल।

बनिक हाट बैठन न दे कह टुक तोसो तोल।
कह टुक तोसो तोल गांठि गत हाथ न लेखो।
ढूढ़त वन-वन ठांव आरवल सुधि नहिं पेखो।
काल चाल कछु अवर याहि कछु औरहिं भावै।
अपनो कियो न होय होइ जो राम सुहावै।
'अग्र' अधिक घट राम रचि निज स्वासा हरिबोल।
बनिक हाट बैठन न दे कह टुक तोसो तोल॥४९॥

शब्दार्थ—तोसो=संतोष वाला, अधिक। टुक=जरा। सुहावै=अच्छा लगे। अधिक घट=ज्यादा कम, अबर=और।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे बनियां तो उसे बाजारमें बैठने तक नहीं दे रहा है और वह उससे जरा ज्यादा तौलनेके लिए कहै, साथ ही यह कहे कि देखो डण्डी ठीक तरह पकड़ो इत्यादि। इसके अतिरिक्त पासमें पैसा भी न हो। तो बतलाइये कि कितनी बेतुकी व हास्यास्पद बात है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही जगत्‌रूपी बाजारका बनियांरूपी ईश्वर तो जीवको बाजारमें बैठने तक नहीं दे रहा है यानी जीवनका तो कोई ठिकाना नहीं और जीव कह रहा है कि 'जरा ज्यादा तौलिये' डण्डीको यों क्यों पकड़ा यों पकड़िये इत्यादि। अर्थात् हे ईश्वर ! ऐसाकर दीजिये, वैसाकर दीजिये, यों हो जाय, त्यों हो जाय यानी कई मनोरथ करता है। साथ ही धर्म-कर्म, (सुकृतरूपी) पूंजीसे रहित है। यानी पासमें कुछ द्रव्य भी नहीं है और कर्त्तव्य भी कुछ नहीं है। तो बतलाइये कि जीवका ऐसा करना व ऐसी करनी व ऐसी बातें सोचना कितना हास्यास्पद व बेतुका है। उसके ये मनोरथ कैसे पूर्ण हो सकते हैं।

इस प्रकार जीव अपनी अवस्थाका कुछ भी विचार न रखता हुआ, अनेकों बड़े-बड़े मकानोंको, खोज-खोजकर बनवाने की कल्पना करता है। जैसे यहाँसे कभी न जाना हो। यह नहीं देखता कि छिन-छिनमें जीवन घट रहा है।

इस तरह कालकी तो ये चाल इस पर चल रही है। जिसकी इसे जरा भी चिन्ता नहीं, इसकी चिन्ता इसे होना आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य है। इतने पर भी इसे संसार

अच्छा लग रहा है। अर्थात् अपनी चालसे बाज नहीं आता। यही एक बड़ा-आश्चर्य है।

ये यह नहीं विचार करता कि यहाँ अपना किया तो कुछ होना नहीं है। होता तो वही है जो प्रभुको अच्छा लगता है। 'फिर भी मैं क्यों इसका झंझट करता हूँ।'

होइ है सोइ जो राम रचि राखा। (श्रीगोस्वामीजी)

श्रीअग्रदासजी कहते हैं कि यदि जीवको श्रीसीतारामजी अपने परम हितचिन्तनसे लगने लगें तो उसको अघट-घटनायें भी सुघट हो सकती हैं। यानी असंभव, संभव हो सकता है। अथवा जो कुछ कम ज्यादा होना चाहिए था वह तो श्रीप्रभुकृपा से पहले रच दिया गया है।

ऐसा समझ हे जीव! तू व्यर्थ व्यौहारोंमें अपने जीवनको व्यर्थ न खो दे। अपने अमोल-जीवनके प्रति स्वाससे श्रीसीताराम नाम बोल ले। जिससे तेरे सब मनोरथ सहजमें ही पूर्ण हो जायेंगे।

टिप्पणी—'अग्र' अधिक घट राम रच निज स्वासा हरिबोल—श्रीस्वामीजी सब सिद्धान्तोंके अतिरिक्त एक और ही बात बतलाते हैं कि हे जीव! तू अधिकतर अपने हृदय–मन्दिरमें (घट) में श्रीरामरूपकी रचनाकर और जब तक दममें दम रहे स्वास-स्वासके साथ नाम-स्मरणकर। अर्थात् श्रीसीतारामजी का ध्यान करते हुए उनके नामका जप कर। इससे तेरा मन भी स्मरणमें लगेगा। साथ ही जप सिद्ध भी जल्दी होकर तेरे मनोरथ सिद्ध होंगे।

महँती करे बधावनो गांव परे उर झार।
गांव परे उर झार अजाको यही सुहावै।
तकत रहे अवकास अपू जो छिद्रहि पावै।
जो कोउ हतो मुमुक्षु कुपथ ते भयो वियोगी।
इन्द्रियजीति अपंथ कुमति डारे जनुरोगी।
'अग्र' जे हरिजन ऊबरे तिनके राम अधार।
महँती करे बधावनो गांव परे उर झार ॥५०॥

शब्दार्थ—महँती=गांवके महतों की स्त्री, माया, प्रकृति। अवकास=मौका, छुट्टी। बधावनो=मंगलोत्सव। उर झार=भड़भड़ी, खलबल, उजार। अजा=माया, बकरी। तकत=ध्यानपूर्वक देखना। मुमुक्षु=मोक्ष चाहने वाला। ऊबरे=उबल गये, निकल गये। इन्द्रियजीति=वैराग्यवान, इन्द्रियोंको जीतने वाला।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे महतों की स्त्री कोई मंगलोत्सव (नाच-गान, खान-पान आदि पंचविषय युक्त) करती है तो गांवके लोगोंके खलबली मच जाती है। वे सब उसके यहाँ अपनी-अपनी मान-मर्यादायुक्त उस मंगलोत्सव का आनन्द लेने चले जाते हैं। चाहे खुशीसे जावें, चाहे स्वयं उससे आकर्षित होकर, चाहे व्यौहार ही भेंटने जायें किन्तु जाते अवश्य हैं। क्योंकि उसके गाँवमें रहना है अतः विरोध कैसे कर सकते हैं। चाहे घरके जरूरी कार्य रह जावें किन्तु उसके यहाँ जाकर व्यौहार व कार्य साधने ही पड़ते हैं।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही प्रकृति (मायारूपी) महँती अपने मनोहर प्रकृतिमयी (पंचविषययुक्त सुन्दर दृश्य, सुरीलीतान,

जायकेदार सरस व्यंजन, अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण, सुगंधादि तथा अच्छे-अच्छे उपभोगादि मङ्गलोत्सवसे शरीररूपी गांवमें खलबली उत्पन्न कर देती है जिसके कारण गांवके गांव उससे आकर्षित हो आनन्द लेने, व्यवहार चुकाने अथवा किसी न किसी तरह उसके यहाँ आते हैं और उससे सम्पर्क स्थापित रखते ही हैं। क्योंकि यदि ऐसा नहीं करते तो फिर कहाँ रहेंगे, साथ ही व्यापाररूपमें अपना तन-मन-धन देकर उसका कार्य साधते हैं।

इस प्रकार मायाको जीवोंका अपनी ओर आकर्षित कर उनका तन-मन-धनरूपी जीवन लेना ही अच्छा लगता है और ये सदैव ही अपने उक्तकार्य साधनेका मौका ही देखती रहती है और इसी तरहसे पंचविषयक उत्सवादिसे जीवके मनको अपनी ओर खींचकर वश कर लेती है। जिसके प्रभावसे मुमुक्षु भी अपने कर्त्तव्यको भूलकर भगवानसे विमुख हो जाते हैं। अर्थात् उनको भगवानके जानने की इच्छा नहीं रह जाती। वे मायासे आनन्दके लिए लालायित होकर, इस कुमार्गके विरही हो जाते हैं। सदैव इसकी प्राप्तिके लिए ही प्राणपनसे प्रयत्न करते हैं। इसी तरह इन्द्रियोंको अपने वशमें रखने वाले भी इसी मायादेवी के प्रभावसे कामी हो जाते हैं। जैसे कुपथ्यसे रोगीका रोग और बढ़कर ज्यादा दु:खदाई हो जाता है।

श्रीस्वामीजी कहते हैं कि इस मायासे तो केवल वही भक्त निकल सकते हैं जो भगवानरूपी महतोंकी ही शरण लेकर इस प्रकृति (मायारूपी) महँतीके उत्सवमें सम्मिलित नहीं होते और इस तरह मायाकी परवाह न करके संसारसे विरक्त रहकर भगवत्शरण गह आनन्दपूर्वक जीवन सफल करते हैं।

सारांश कहनेका ये है कि माया स्वभावत: जीवको भगवान की शरणमें न रख, जीवन-सफल नहीं बनाने देती। अत: राजा

जीवको उचित है कि विवेक, वैराग्य द्वारा इसके फटके कब्जे, अधिकारमें न आकर भगवत्-भक्ति करके भगवान की सामीप्यता प्राप्त करे।

बहुत गई थोड़ी रही थोड़े में हूँ चेत।
थोड़े में हूँ चेत अमल छूटत श्रम थोरे।
मारग विषय विसार सड़क सीतापति ओरे।
दो घटिका में अंग भूप गोविन्द पद पायो।
दुर्मति तजि पिंगला श्याम हरि सेज बसायो।
'अग्र' आलकस जनि करो हरि भजिबे के हेत।
बहुत गई थोड़ी रही थोड़े में हूँ चेत ॥५१॥

शब्दार्थ—चेत=सावधान हो। अमल=मादक वस्तु। हेतु=लिए। ओरे=ओर की। दुर्मति=बुरी बुद्धि।

भावार्थ— (दृष्टान्त) जैसे सुबहका भूला शामको घर आ जाये तो वह भूला नहीं कहलाता। इसी बात पर ध्यान देते हुए श्रीस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव ! तूने अपनी सारी-पूंजी यानी पूंजीका बहुत-सा भाग व्यर्थ कर दिया है। अब थोड़ा-बहुत जो बचा है उसीका सदुपयोग कर। अब भी सावधान हो जा, अभी कुछ नहीं बिगड़ा अभी मौका है कि वह सारी गई हुई पूंजी सार्थक हो सकती है।

(दार्ष्टान्त)—सारांश ये है कि हे जीव ! तूने अपनी सारी पूंजीरूपी उम्र (क्योंकि जीवनका कोई ठिकाना नहीं कब अन्त हो जाय, इसलिए सारी अथवा बहुत-सा भाग) योंही विषयमें फँस व्यर्थ खो दिया है किन्तु अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। अब भी

समय है कि सावधान होकर इस बचे हुए समयमें ही सारे-जीवन को, बहुत ही थोड़े परिश्रमसे, अपनी इस विषयरूपी मादक-वस्तु ग्रहण की आदतको त्यागकर सफल कर सकते हैं।

अतः मेरी कही मान लो इस विषय की गलीको छोड़कर, पतितपावन श्रीसीतारामजी की ओर की सड़क पर चले जाओ। ये रास्ता बहुत ही सुगम तथा सुखप्रद है। क्योंकि ये बड़ी ही जल्दी ध्येय तक पहुँचाने वाला है।

देखो! इसी मार्गसे चलकर पराक्रमी श्रीअयोध्या-नरेश खट्वाङ्गजी महाराज २ घड़ीमें ही अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच, निजस्वरूपको प्राप्त हो गये हैं। इतना ही नहीं महा-दुराचारिणी पिंगला नामक वेश्या भी जगत् आशारूपी विषय मार्गको त्याग इसी रास्तेसे चलकर अपनी शेष आयुमें ही भगवान श्यामसुन्दरजीसे मिल अपने सारे-जीवनको सफल कर सकी है।

इसलिए श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि इन्हीं सब बातोंको विचारकर हे जीव! किसी बात की जरा भी चिन्ता न करके, श्रीभगवानके भजन करनेमें आलस न करके, सावधानीसे अपने जीवनको सफल करो। 'बीती ताहि बिसार दे आगे में चित देय' के अनुसार जिसके लिए कुछ भी नहीं हो सकता उस गुजरे हुए का विचार मत करो। शेष-जीवन ही सारे-जीवनको सफल बनाने के लिए पर्याप्त है। अतः इसमें बड़ी सावधानीसे भगवान का भजन करो।

टिप्पणी—अङ्गनृप—महाराज खट्वाङ्गजी। श्रीगङ्गाजी और श्रीसरयूजीके मध्यदेशको अङ्गदेश कहते हैं। अतः इस देशका राजा अङ्गनृप कहलाया। इस देशमें प्राचीनकालसे इक्ष्वाकुवंशी राजा ही राज्य करते चले आये हैं। उन्हींमें एक

श्रीखट्वाङ्गजी हुए जिन्होंने २ घड़ीमें ही निजस्वरूप प्राप्तकर भगवत्-प्राप्ति की।

ये महाराजा चक्रवर्ती राजा हुए, इनके पिताका नाम महाराज विश्वसह था। महाराज खट्वांगजी बड़े प्रतापशाली एवं अति अजित थे। देवताओंकी प्रार्थना पर उन्होंने राक्षसोंका बध किया था। जिस पर देवताओंने प्रसन्न होकर मनमाना वरदान माँगनेको कहा, तब राजाने कहा—अच्छा यदि आप मुझे कुछ देना ही चाहते हो तो ये बतलाइये कि मेरी मृत्युमें अब कितना समय बाकी है। तब उन्होंने कहा कि बस ! अब आपकी केवल २ घड़ी आयु शेष है। ऐसा सुनकर वह शीघ्र ही उन्हींसे विमान माँगकर श्रीअयोध्याजी आये और अपने सब राजपाटको त्यागकर श्रीभगवानकी शरण होकर उन्हींके ध्यान-स्मरणमें तल्लीन होकर निजस्वरूपको प्राप्त हो गये। इस तरह भगवत्-प्राप्तिके साथ अपने भावको प्राप्त हो गये।

पिङ्गला—यह विदेहनगरमें रहने वाली एक वेश्या थी जो अपनी वेश्यावृत्ति करते-करते बहुत धनाढ्य हो गई थी यह धन की बड़ी लालचिनी थी। इसकी धनकी अभिलाषा बढ़ती ही जाती थी। एकदिन उसने अपने दरवाजे पर एक नगाड़ा रखवा कर संकेत किया कि 'जो धनी आकर जितने डंके इस नगाड़े पर मारे वह धनाढचपुरुष रातको मेरे पास आकर उतने ही हजार रुपये मुझे दे और आप अच्छा सिंगार वगैरह कर अपनी चित्रसारीमें पलङ्ग वगैरह सब अपना ठाटबाट बनाकर उस महाधनीकी बाट देखने लगी और शामसे ही दरवाजे पर बैठ गई।

कई पुरुष उस रास्तेसे आये, गये। वह आते हुए धनीको देखकर अर्थकी इच्छा करती और जब वह निकल जाता तो और

और अधिक धनकी आशा कर रुक जाती । इसी तरह वह कभी भीतर कभी बाहर आती-जाती । होते-होते आधी-रात व्यतीत हो गई ।

इस समय धन आशासे उसका चित्त दीन हो गया था । मुख सूखने लगा था । इस चिंतित अवस्थासे उसे एकक्षणमें वैराग्य उत्पन्न हो गया और वह अपने आपमें कहने लगी । ओह ! मैंने बड़ी भूलकी कि लोभके वश हो मैंने अपनी इज्जत को कुछ भी न समझा । मुझे धिक्कार है । मैं ऐसी प्रीति अगर परमात्मासे करती तो मुझे निरर्थक-धन व अन्य बातोंकी आवश्यकता ही न पड़ती और न आज मुझे इस तरह हताश होना पड़ता । साथ ही इस धनसे तो मुझे देखने मात्रका लाभ है और यहाँ भी मैं आदरकी दृष्टिसे नहीं देखी जाती । इन चांदी-सोनेके टुकड़ोंसे क्या ? परलोकमें मेरी क्या गति होगी । हाय ! मैंने कभी ऐसा भी विचार नहीं किया । अस्तु, ऐसा कहती व सोचती हुई वह एकायक उठी और बाहरका दरवाजा बन्द करके उस पलंगके पास आकर बैठ गई और पुनः कहने लगी ।

अब मैं ये सब परमात्माके लिए ही करूँगी । उन्हींको अपना पति समझ उन्हींसे लक्ष्मीकी तरह रमण करूँगी । मैं आज उन्हींकी शरण होती हूँ । इत्यादि विचारकर वह उस दिनसे यथालाभ जीविका करती हुई अपने भगवानमें ही रमने लगी और अन्तमें अपने भावको प्राप्त हो गई ।

सबै सयाने एक मत सौ फेरा एक गाँठ ।
सौ फेरा एक गाँठ राम भज नेह भलो पथ ।
अगतिन तेउ उद्धरे देह दुर्लभ निज पद गथ ।
स्मृति साखि पुराण आन अवलंब न कोऊ ।

काल मृत्यु सुर असुर शीश आज्ञा धर सोऊ।
'अग्र' कहें हरिभक्ति बिन हुई है सर्वसु नांठ।
सबै सयाने एक मत सौ फेरा एक गांठ ॥५२॥

शब्दार्थ—सयाने=बुद्धिमान, वृद्ध पूर्वज, धर्म प्रवर्त्तक। गथ=गये, कहे गये। फेरा=घुण्डी, प्रकार, विधि। अगतिन=जिनको कोई गति न दे सके, महापापी। नांठ=नष्ट।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी समस्त धर्म प्रवर्तकोंके सिद्धान्तों पर, मत-मतान्तर-सारके तत्वों पर विचार करते हुए, सबकी यथार्थरूपसे एकता ही समझकर कहते हैं। गथ (मोलको भी कहते हैं किन्तु यहाँ गथका ये अर्थ ठीक नहीं बैठता। गथ शब्द तो गतके लिए ही यहाँ प्रयुक्त हुआ मान लिया गया) है।

गथ—प्राप्तिका—गाया है। सबका धार्मिक मत यथार्थतः एक आधार पर ऐसे ही अबलंवित है जैसे 'सौ फेरा एक गांठ' देखिये इसी बातसे महात्मा कबीरजी भी सहमत हैं।

नदिया एक घाट बहुतेरा। कहै कबीर समझ का फेरा ॥

(कबीरदासजी)

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही जितने महान् पुरुष हुए अथवा हैं। सबका यही एक मत है कि 'ईश्वरका प्रेमपूर्वक भजन करना ही सर्वोत्तम है। क्योंकि मत-मतान्तरोंके तात्विक सिद्धान्तों पर सावधानीसे विचार व मनन करने पर तो यही सारतत्व धर्मका एकमात्र आधार निश्चय होता है। देखिये—

सब कर मत खग नायक एहा। करिय रामपद पंकज नेहा ॥

(रामचरितमानस)

भले ही, उनके साधनादि—विधि, ढंग, प्रकारादि, निराले, भिन्न-भिन्न सैकड़ों तरहके हैं, किन्तु गांठरूप सारतत्व जो सब

फेरोंको बांधे हुए हैं, वह ईश्वर-भक्तिरूप सबकी एक ही है। बिना इसके समस्त धार्मिक-सम्मान (फेरे) ऐसे ही व्यर्थ हैं। जैसे किसी वस्तुके लपेटने के लिए सूतके कितने ही लपेट क्यों न दिये जायें, किन्तु बिना गांठके वे नहीं ठहर सकते, खुल ही जायेंगे। इसी तरह सभी धर्मों की स्थिरता व फलीभूत होना, एक भक्ति पर ही निर्भर है। देखिये—

साधक सिद्ध विमुक्त उदासी। कवि कोविद कृतज्ञ संन्यासी।
जोगी सूर सुतापस ज्ञानी। धरम निरत पंडित विज्ञानी।
तरहिं न बिनु सेये मम स्वामी। राम नमामि-नमामि नमामी।
तीर्थाटन साधन समुदाई। योग विराग ज्ञान निपुनाई।
नाना करम धरम व्रत दाना। संयम दम जप तप मख नाना।
भूत दया द्विज गुरु सेवकाई। विद्या विनय विवेक बड़ाई।
जहँ लगि साधन वेद बखानी। सब कर फल हरिभक्ति भवानी।

(श्रीगोस्वामीजी)

अतः जीवको अपने थोड़ेसे जीवनमें कर्मरूपी फेरोंमें न पड़कर गांठरूपी ईश्वर-शरण (भक्ति) का सहारा लेकर संसार-सागरको सहजमें ही पार कर लेना चाहिए। क्योंकि बड़े-बड़े महापापी, जिनको कोई भी शरण लेने वाला नहीं था इसी नाम-स्मरण, भजन द्वारा यानी इसी भक्तिसे संसार-सागरसे आनन्दपूर्वक पार हो गये हैं और अपने इस दुर्लभ नरदेहका यथार्थलाभ (आत्म-स्वरूपको) प्राप्तकर अपने-अपने पदानुसार एवं भावानुसार ध्येयको पहुँच चुके हैं। जिसके साक्षी स्मृति-पुराणादि हैं। जो इस बातको कई प्रमाणोंसे सिद्ध कर जीवके लिए एक ईश्वर भक्तिके अतिरिक्त और कोई भी अबलम्ब भवसागरसे पार होने के लिए नहीं बतलाते हैं। जिस ईश्वर की आज्ञाको काल, मृत्यु, सुर, असुर आदि समस्तदेव शिरोधार्य करते हैं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि ऐसे सर्वशक्ति सम्पन्न सर्वेश श्रीसीतारामजीकी भक्ति बिना हे जीव ! तेरा सर्वस्व नष्ट ही हो जायेगा । अथवा अपने यथार्थ-ध्येयको न प्राप्तकर सकेगा ।

दूसरे जिसे तू अपना मान रहा है—धन, धाम, कुटुम्ब, कबीला, शरीरादि सब जीवनान्तर नष्ट होने को ही हैं । किन्तु आत्मस्वरूप जो तेरा सर्वस्व है, उसे तू भक्ति द्वारा ही प्राप्तकर सकता है । बिना भक्तिके न कर सकेगा और जिसके कारण तुझे कहीं भी सुखशान्ति न मिल सकेगी ।

श्रुति पुराण सद्ग्रन्थ कहाहीं । रघुपति भक्ति बिना सुख नाहीं ॥
(रामचरितमानस)

इसलिए हे जीव ! सब धर्मों की गांठरूप भक्ति और फेरेरूप साधनादि समझकर, ईश्वरभक्ति करके अपने यथार्थ स्वरूपको प्राप्त करना चाहिए । यही बुद्धिमानी है एवं श्रेयप्रद है ।

टिप्पणी—अगतिन तेऊ उद्धरे—महापापी निजस्वरूपको प्राप्त होकर अपने भावानुसार मुक्त हो गये ।

एक तो 'अगतिन' शब्दसे स्पष्ट ही है कि जिन्हें कभी भी गति प्राप्त नहीं हो सकती थी, और न होना ही चाहिए थी क्योंकि उनके कर्म ही ऐसे थे । अतः महापापी थे । तिनके लिए 'तेऊ' शब्दसे स्पष्ट किया कि ऐसे महापापी होते हुए भी उनको संसारसे भक्ति द्वारा मुक्ति प्राप्त हुई है । तब हे जीव ! तू क्यों डरता है । वहाँ तो पतितोंके लिए ही दरबाजा खुला है वहाँ पुण्य वालेकी पूछ नहीं । देख कितने लोग इस सरल और सीधे रास्तेसे गये, कि जिन्हें अपने सभी सद्ग्रन्थ एकस्वरसे सराह रहे हैं—

कायर कूर कपूतन की हद तेउ गरीब निवाज निवाजे ।

(कवितावली)

पाई न केहि गति पतित पावन राम भजि सुन शठ ! मना ।
गनिका अजामिल गीध व्याध गजादि खल तारे घना ।
आभीर यवन किरात खश स्वपचादि अति अघरूप जे ।
कहि नाम बारेक तेपि पावन होत राम नमामि ते ।

(श्रीगोस्वामीजी)

ऐसे राम दीन हितकारी ।
अति कोमल करुणा निधान बिन कारण पर उपकारी ।
हिंसारत निषाद तामस वपु पशु समान वनचारी ।
भेट्यो हृदय लगाय प्रेमवश नहि कुल जाति विचारी ।
यद्यपि द्रोह कियो सुरपति सुत कहि न जाय अति भारी ।
सकल लोक अवलोकि शोकहत, शरण गये भयटारी ।
अधम जाति सबरी योषित जड़ लोक वेद ते न्यारी ।
जानि प्रीति दे दरश कृपानिधि सोउ रघुनाथ उधारी ।
कहलौं कहों दीन अगतिन जिनकी तुम विपति निवारी ।

(आदि देखिये श्रीविनय श्रीगोस्वामीजीकृत
तथा विनय का १६वां पद)

हरि सन्मुख सुख पाइये विमुख भये दुख होय ।
विमुख भये दुख होय देख दशग्रीव विभीषण ।
देखो सुरुचि सुनीति देख प्रहलाद पिता पन ।
देख दक्ष को यज्ञ देख पृथु वेणु विनीता ।
कंस जनक सुत अन्ध देख पांडव जग जीता ।

'अग्र' मुकुर प्रतिबिम्व में अपनो आनन जोय।
हरि सन्मुख सुख पाइये विमुख भये दुःख होय ॥५३॥

शब्दार्थ—दशग्रीव=रावन। कंस जनक=कंस तथा कंसके पिता श्रीउग्रसेनजी। सुत अन्ध=कौरव। आनन=मुख। प्रतिबिम्व=छाया। मुकुर=दर्पण। जोय=देखना। सन्मुख=शरणमें। विमुख=विरुद्ध।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि भगवान की शरणमें जानेसे सुख मिलता है और उनके विरुद्ध जाने पर दुःख प्राप्त होता है। इसी बातको श्रीस्वामीजी निम्नलिखित दृष्टान्तों से प्रमाणित करते हैं कि जैसे—

*सम्मुख होनेसे प्राप्ति और विमुख होनेसे अप्राप्ति हुई—

सुख शान्ति	दुःख
१—श्रीविभीषणजी	श्रीरावणजी
२—श्रीसुनीतिजी	श्रीसुरुचिजी
३—श्रीप्रह्लादजी	श्रीहिरण्यकश्यपुजी
४—श्रीसतीजी	श्रीदक्षजी तथा उनका यज्ञ
५—श्रीपृथुजी	श्रीवेणुजी
६—श्रीउग्रसेनजी	श्रीकंसजी
७—श्रीपाण्डवजी	श्रीकौरवगण

इन उक्त दृष्टान्तोंके जीवों की दशा ईश्वर-विरुद्ध चलनेसे दुःखमयी तथा ईश्वर-सम्मुख होनेसे सुखमयी हुई।

---

*इन सबकी कथायें आगे अति संक्षिप्तरूपसे केवल भाव-प्रदर्शन मात्रके ध्येयसे दी गई हैं।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही जो जीव भगवत्-सम्मुख हो उनकी शरण लेते हैं। उनका भजन-स्मरण आदि करते हैं उनको उनके भावानुकूल यथार्थसुख मिलता है और इसी प्रकार जो जीव विमुख होकर उनसे व उनके भक्तोंसे विरुद्ध होकर दुष्टाचरण द्वारा विरोध करते हैं उनको अनेकों संसारी-दुःख उठाने पड़ते हैं।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे दर्पणमें मुख देखने पर अपने भावानुकूल ही मुख की छाया दिखाई पड़ती है वैसे ही अपने हृदयानुकूल ही श्रीभगवानका जीव पर प्रभाव पड़ता है। कहनेका मतलब ये है कि जितना ज्यादा-कम प्रेम, जीव ईश्वरसे करेगा उतना ही कम-ज्यादा प्रेम, ईश्वरके यहाँसे जीव पर होगा।

सारांश यह है जीवके दुःख-सुख की अवस्था पूर्णतया भगवान की विमुखता व सम्मुखता पर ही निर्भर है।

१—दशग्रीव विभीषण—ये दोनों भाई-भाई थे और दोनों ही निशाचर थे। किन्तु छोटे भाई विभीषणने भगवान श्रीसीताराम की शरण होकर सम्मुखताका मार्ग लिया था और उनके बड़े भाई रावणने अपने दुष्टाचरणसे भगवान श्रीसीतारामजीके विमुखताके मार्गका अनुसरण किया था। इनका समस्त चरित सविस्तार स्वनामधन्य परम प्रसिद्ध 'श्रीरामचरितमानस' में देखिये। वहीं से—

पहले श्रीरावणजीका वैभव देखिये—

ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दशमुख वशवर्ती नर नारी॥

भुजबल विश्ववश्य करि राखेउ कोउ न स्वतन्त्र।
मण्डलीक मनि रावण राज करे निज मन्त्र॥

अब इसकी दशा भगवत्-विमुख होने पर देखिये—

शेष कमठ सहि सकहिं न भारा। सो तनु भूमि परचो भरि छारा॥

यहाँ तक कि—

अब तब सिर भुज जंबुक खाहीं। राम विमुख यह अनुचित नाहीं।

अब श्रीविभीषणजीको देखिये—

सुनहु पवन सुत रहनि हमारी। जिमि दशनन महँ जीभ विचारी।

शरणागतिके समयकी दीनता देखिये—

मैं निशिचर अति अधम स्वभाऊ। शुभ आचरन कीन नहिं काऊ।
नाथ दशानन कर मैं भ्राता। निशिचर बंश जन्म सुरत्राता॥

श्रवण सुयश सुनि आयेऊँ, प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरति हरण, शरण सुखद रघुबीर॥

दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिशाल गहि हृदय लगावा॥

सम्मुख होनेके बादकी दशा देखिये—

रावण क्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड।
जरत बिभीषण राखेउ दीन्हेंउ राज अखण्ड॥
जो सम्पति शिव रावनहिं दीन्ह दिये दश माथ।
सो सम्पदा बिभीषणहिं सकुचि दीन्ह रघुनाथ॥

इसीसे तो श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

अस प्रभु छाड़ि भजहिं जे आना। ते नर पशु बिन पूछ बिषाना॥

अब जीवोंके लिए इससे ज्यादा क्या कह सकते हैं। अस्तु—

२—सुरुचि, सुनीति—अयोध्यानरेश श्रीउत्तानपादजी की दो रानियां थीं। जिनका नाम सुरुचि और सुनीति था। श्रीउत्तान-

पादजीका प्रेमविशेष सुरुचि पर था। इसके श्रीउत्तम नामका पुत्र था और सुनीति श्रीध्रुवजी की माता थीं।

एकदिन राजा, सुरुचि पुत्र उत्तमजीको गोदीमें लिए खिला रहे थे। कहींसे ध्रुव भी आ गये और पिताकी गोदमें बड़े चावपूर्वक बैठ गये। इस पर सुरुचिने पकड़कर श्रीध्रुवजीको श्रीमहाराज उत्तानपादजीकी गोदसे हटा दिया और कहने लगीं। 'चले गोदीमें बैठने ! अगर वहाँ ही बैठना था तो मेरे उदरसे जन्म लिया होता। अगर वहाँ ही बैठना है तो ऐसा तप करो कि मेरे उदरसे जन्म मिले। तब कहीं ये सौभाग्य प्राप्त करना।'

इस पर ध्रुवजी रोते हुए बड़े-व्याकुल अपनी माता सुनीतिजीके पास आये और उक्त घटना कही। सुनीति भी बहुत व्याकुल हुईं किन्तु वश क्या था। राजा साहबने भी कुछ नहीं कहा था। अन्तमें बालकको मारे क्रोध और विकलतासे व्यंग करती हुई सांत्वनापूर्वक बोलीं—'बेटा ! धैर्य धारण करो। मैं ऐसी ही हूँ। तुम्हारी माता सुरुचिने ठीक ही कहा है मेरे भाग्य कहाँ कि तुम वहाँ बैठनेके योग्य होते और फिर अन्तमें समझाते हुए सुरुचिके उसी बचनको जो उसने ध्रुवजीसे कहे थे, दुहराते हुए कहा कि बेटा ! अपनी विमाताके बचनोंको सत्य समझकर तपसे भगवानको प्राप्त करो वह तुम्हारे इस दुःखको अवश्य दूर करेंगे।

सुरुचि कह्यौ सोइ सत्य तात बह परुष बचन जबहूं।
तुलसीदास रघुनाथ बिमुख सुत मिटै न बिपति कबहूं॥

(बिनयपत्रिका)

अपनी माताकी उस समयकी बिकलता तथा दैन्यदशा

देखकर ध्रुवजीको बहुत दुःख व ग्लानि उत्पन्न हुई और वे अपनी मातासे भी तप द्वारा भगवत्-प्राप्ति की आज्ञा सुन उसी समय जंगलकी ओर चल दिये। इस समय इनकी अवस्था केवल ५ वर्ष की ही थी। रास्तेमें श्रीदेवर्षि नारदजीसे भेंट हुई। उन्होंने इन्हें समझाया कि देखो, अभी तुम बालक हो ऐसा न करो किन्तु उनकी सच्ची लगन देख, मन्त्र आशीर्वादादि देकर भगवत् प्राप्तिके हेतु जाने की आज्ञा दी। ध्रुवजीकी तपस्या देखकर भगवान भी चकित हो गये और अन्तमें दर्शन देकर पहले राज्य करनेके लिए वापिस भेजा। श्रीमहाराज उत्तानपाद भी अपने बेटेकी ऐसी बात सुनकर बड़े ही मुदित हुए और उनको बड़े समारोहके साथ आगेसे लेकर गद्दी पर बैठा दिया। इस तरह अपनी माताके साथ महाराज ध्रुव आनन्दपूर्वक राज्य करने लगे और अन्तमें अचलपदको प्राप्त हुए।

रानी सुरुचिका पुत्र एक समय आखेटको गया था, वहाँ वह यक्षके हाथसे मर गया और उसीके वियोगमें रानी सुरुचि भी जलकर मर गई। इस तरह भगवत्-सन्मुख होनेसे सुनीति की यह सुखमयी अवस्था रही और सुरुचिकी विमुखताके कारणसे यह दशा हुई।

३—प्रहलाद पितापन—सतयुगमें हिरण्यकश्यपु नामक एक बड़ा प्रतापी दैत्य भू-मण्डल पर अपना एकमात्र राज्य स्थापित किये बड़े वैभव व आतङ्कके साथ राज्य करता था। उसीके पुत्र श्रीप्रहलादजी हुए। इन्होंने श्रीनारदजीकी कृपासे एक कुम्हारीके अंवेमें बिल्लीका बच्चा जीता निकला हुआ देख श्रीरामनाममें अटल-विश्वास किया और अपने दुष्ट पिताके—जो भगवानका पक्का द्रोही तथा स्वयं अपनेको भगवान मानकर दूसरोंसे मनवाने

वाला था। प्रहलादजीने रोकने पर भी श्रीरामजीके नामकी रटनको न छोड़ा। इन्हें इस प्रकार रामनामका अनुयायी समझ उसने इनके मारनेमें कोई कसर नहीं लगाई। विष दिया गया, पहाड़से ढकेले गये, पानीमें डुबाये गये और न मालुम कितने-कितने कष्ट दिये गये—किन्तु जब ये किसीसे भी न मरे तो स्वयं हाथमें तलवार लेकर अपने महलमें ही एक खम्भेसे इन्हें बांधकर मारनेके लिए तैयार हो गया और इनसे कहने लगा कि देखो बेटा! अब भी सोचो मौका है ये रामनाम की बकवाद अब भी छोड़ दो। किन्तु ये न माने। अन्तमें उसने कहा कि अच्छा बता? तेरा राम कहां है। नहीं तो मैं अभी तुझे एक ही हाथमें साफ किये देता हूँ। इस पर प्रहलादने भगवानका स्मरणकर कहा 'पिताजी मैं यही नहीं समझ सका हूँ कि मेरा राम कहाँ नहीं है। मैं क्या बताऊँ आपको वह हर जगह हैं।' ऐसा सुनकर उसे बड़ा क्रोध आया और बोला 'अच्छा देखें तेरा कैसा राम है ले आ जावे' इतना कहकर ज्योंही उसने मारनेके लिए तलवार चलाई कि भगवान नृसिहजी खम्भसे प्रकट होकर प्रहलादके पिताका बीचमें ही हाथ पकड़ उससे लड़ने लगे और अन्तमें अपनी गोदमें उसको रख नखसे उदर चीर डाला। प्रहलादजीके सिर पर अपना हाथ धरकर उनको वहींका राजा बना भगवान अन्तर्ध्यान हो गये। इस तरह ईश्वर विमुखतासे उसको कष्ट और प्रहलादजीको सन्मुखता सुखकी प्राप्ति हुई।

४—देख दक्षको यज्ञ—श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीकृत 'रामचरितमानस' में इसका संक्षिप्त वर्णन मिलता है।

कहते हैं कि एक समय भगवान शंकरजीके रोकने पर भी श्रीसतीजीने परात्पर भगवान श्रीरामजीकी परीक्षा अनुचित

रीतिसे ली थी। जिसके कारण श्रीशंकरजीको विवश हो उन्हें त्यागना पड़ा था उस समय श्रीसतीजीने श्रीरामजीका स्मरण कर अपनी मूर्खता पर शोक प्रकट करते हुए यही मांगा था कि हे भगवन्! आपकी सर्वज्ञताको मैं भली प्रकार जान गई हूँ। आप कृपा करके ऐसा कीजिये। कि मैं फिर जन्म लेकर श्रीशिवजीको प्राप्त हो जाऊँ। देखिये-सतीजीने ये प्रार्थना भगवान रामजीसे यों की है—

तौ समदर्शी सुनिय प्रभु, करहु सो वेगि उपाय।
होय मरन जेहि बिनहि श्रम, दुसह बिपत्ति विहाय॥

वहाँ इतनी देर कहाँ? प्रार्थना यहाँ निकली नहीं कि उसका सारा प्रबन्ध ही हो गया।

यहाँ तो श्रीसतीजीका ये हाल था। वहाँ उनके पिता दक्षजी श्रीशंकरजीसे किसी बात पर बुरा मान जानेके कारण श्रीशंकरजीको सूचना तक न देकर एक यज्ञ करने लगे। जिनके न्योतेमें विमान पर चढ़-चढ़कर देवगण आकाश मार्गसे जाने लगे। उस समय सतीजी श्रीशंकरजीके समीप ही बैठी थीं। उन्होंने श्रीशिवजीसे उन विमानोंके विषयमें पूछा कि ये कहाँ जा रहे हैं। तब श्रीशिवजीने आदिसे अन्त तक सब बातें दक्ष प्रजापतिजी की कही। देखिये—

पूछेउ तब शिव कहेउ बखानी। पिता यज्ञ सुनि कछु हर्षानी।

तब श्रीसतीजीने श्रीशिवजीसे यज्ञ देखनेके लिए जानेको कहा। श्रीशंकरजीने उनको हर तरह समझाया और जब देखा कि ये न मानेंगी तब अपने गणोंके साथ श्रीसतीजीको दक्षजीके यहाँ भेज दिया। जब श्रीसतीजी अपने पिताके भवनमें गईं तब देखिये—

पिता भवन जब गई भवानी। दक्ष त्रास काहु न सन्मानी।
सादर मिली भलेहि एक माता। भगिनी मिलीं बहुत मुसकाता।
दक्ष न कछु पूंछी कुसलाता। सती बिलोकि जरे सब गाता।
सती जाय देखेउ तब जागा। कतहुँ न दीख शंभु कर भागा।
तब चित चढ़ेउ जो शंकर कहेऊ। प्रभु अपमान समुझि उर दहेऊ।
पाछिल दुख अस हृदय न व्यापा। जस यह भयेउ महा परितापा।

शिव अपमान न जाय सहि हृदय न होय प्रबोध।
सकल सभहि हठि हटकि तब बोली बचन सक्रोध॥

सुनहु सभासद सकल मुनिन्दा। कही सुनी जिन शंकर निन्दा।
सो फल तुरत लहब सब काहू। भली भांति पछिताब पिता हू।

इत्यादि कहकर—

अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। भयउ सकल मख हाहाकारा।

उस समय तो किसी न किसी प्रकार शंभुगणोंसे मुनियोंने यज्ञकी रक्षाकी किन्तु जब श्रीशंकरजीने यह सब हाल सुनकर बीरभद्रको यज्ञ विध्वंस करने भेजा। तब तो वहाँ सबकी बड़ी दुर्गति हुई देखिये—

जज्ञ विध्वंस जाय तिन कीन्हा। सकल सुरन बिधिवत फल दीन्हा।
भई जग बिदित दक्ष गति सोई। जस कछु शम्भु विमुख को होई।

इस तरह श्रीसतीजी यज्ञमें जलकर श्रीपार्वतीजी हुई और फिर श्रीशंकरजीके साथ इनका विवाह आनन्दपूर्वक हुआ। इस तरह फिर पूर्ववत् हो गई। श्रीसतीजीको बिमुखतासे कितना दुःख व सन्मुखतासे कितना सुख हुआ। इसी तरह वहाँ महाभागवत-विमुख श्रीदक्षजीकी क्या दशा हुई।

५—महाराज वेणु तथा महाराज पृथु—अयोध्यानरेश श्रीअङ्गजीके वेणु नामक दुष्ट पुत्र हुआ। इस पुत्रका प्रजाके प्रति दुष्टतापूर्ण व्यवहार देखकर महाराज अङ्गजी बहुत दुःखित हुए और राज्य छोड़ वनको चले गये। प्रजाने राजा वेणुको बहुत समझाया पर वह कब मानने चला था। वह अपनेको ईश्वर मनवाना चाहता था जिसके कारण ऋषि लोग उससे असंतुष्ट हो गये और मन्त्रों द्वारा उसे मार डाला। सारे देशमें अराजकता फैल जाने तथा बिना राजाके कार्य न चलता देख ऋषियोंने उस राजा वेणुकी जंघा मथी। जिससे एक छोटेसे कालेपुरुष की उत्पत्ति हुई जो निषादादि जातियोंका आदिपुरुष है। फिर उन्होंने उसकी भुजा भी मथी जिससे महाराज पृथु, मय अपनी भार्याके उत्पन्न हुए। जो बड़े प्रतापशाली तथा महान् सुकर्मी थे। इन्होंने सारी-पृथ्वी पर राज्य किया और १०० यज्ञ किये। आखिरी यज्ञमें इन्द्रने अनेकों संकट उपस्थित किये और अन्तमें हार मानकर उनसे मेल किया। अनंतर महाराज पृथुने भगवत् भक्ति द्वारा भगवानकी प्राप्ति की और उनके ही यश सुननेके लिए उन्हींसे १०००० कान वरदानमें मांगे। जिनके नामसे ही पृथ्वीका नाम पृथ्वी हुआ। इस तरह भगवत्-विमुख वेणु की ये दशा हुई और उसीके पुत्र पृथुजी महाराज यों आनन्दपूर्ण हुए।

६—कंस तथा उग्रसेन— द्वापरयुगमें मथुराका दैत्यराज कंस बड़ा प्रतापशाली हुआ है। इसने अपने पिता उग्रसेनजीको कैद कर राज्य पर अधिकार कर लिया था। इसने उस समय अपनी प्रजा तथा ऋषिगणोंके साथ बड़े-बड़े अत्याचार किये। इसने अपनी बहिनके ५-६ पुत्र मार डाले थे इन्हीं सब बातोंको देख भगवान श्रीकृष्णजीको अवतार लेकर इस दुष्टका नाश

करना पड़ा और इसे मारकर इसके ही पिताको मथुराका राजा बनाना पड़ा। श्रीमद्भागवतमें ये कथा विस्तार सहित वर्णित है। पाठक वहाँसे पढ़कर आनन्द ले सकते हैं दोनों बाप-बेटोंने भगवत्-सन्मुखता व विमुखताका अपने कर्मानुसार दुःख-सुख पाया।

७—सुत अंध और पांडव जग जीता—द्वापरयुगमें एक नगर उस समय हस्तिनापुरके नामसे विख्यात् था। महाराज धृतराष्ट्र नामके एक अंधे राजा राज्य करते थे। इनके सौ पुत्र थे जो कौरव कहलाते थे। महाराज धृतराष्ट्रके भाई पांडु थे। जिनके ५ लड़के थे जो पांडव कहलाते थे।

कौरव अत्याचारी तथा अन्यायी थे और इनके खिलाफ पांडव बड़े धर्मज्ञ तथा न्यायप्रिय थे। इन दोनोंमें राज्यके बँटबारे पर झगड़ा हुआ। भगवान कृष्णने भी कौरवोंको समझाया पर वह कब मानने वाले थे। इस पर इन दोनोंमें कुरुक्षेत्रके मैदानमें १८ दिन भारतका एक महान् युद्ध 'महाभारत' के नाम से हुआ। जिसमें करोड़ों अद्वितीय भारतीय वीरोंका नाश हुआ जिसकी पूर्ति आज तक नहीं हुई और न कभी होनेकी आशा ही है।

भगवान बड़े कौतुकी हैं न मालूम उन्हें क्या सूझता है। उन्होंने अपने देखते-देखते ही भारतके अनंत भारतीयोंको ध्वंस करवा डाला। अंतमें पांडव विजयी हुए और कौरवोंका नाश हुआ कहते हैं कि भारतवर्ष की अनूपम विद्यायें इस समय कराल-कालके कवल हो गयीं। नहीं तो भारतकी ये दशा हो सकती थी? कदापि नहीं। इस तरह भगवत्-विमुख कौरव दुःखके व भगवत् प्रिय पांडव सुखके भागी हुए।

धोबी बेटा चाँद सो सीसी और फटाक ।
सीसी और फटाक प्रेम हरिभक्ति न जाने ।
छाने सौ मन चून चालनी सार न आने ।
धमनि धमै ज्यों श्वास अन्न भूसा ज्यों कूटै ।
लेय न हरिको नाम देह श्वासा जिमि छूटै ।
'अग्र' कहे हरिभक्ति बिन सेमर फूलै पाक ।
धोबी बेटा चाँद सो सीसी और फटाक ।।५४।।

शब्दार्थ—चाँद=चन्द्रमा । चालनी=छानी । धमनि=लोहारकी अग्नि प्रज्वलित करने वाली खालकी मशीन । धमै=धमै, चलती है । सेमर=वृक्ष विशेष ।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि जैसे धोबीका सुन्दर चन्द्रमाके समान चेहरा वाला लड़का सी-सी करता पत्थर पर धोने वाले कपड़े पटक-पटक फटाक (पत्थर पर कपड़े पटकनेसे जो आवाज आती है वह 'फटाक शब्द') फटाक मुंहसे-कपड़े पटकते समय सी-सी करता रहता है और इसी तरह सारा-दिन अपने ही कार्यमें बिता देता है और अपने धन्धेके प्रेममें ही अपना सारा-जीवन लगा देता है । भगवानकी भक्ति तक करना नहीं जानता जिस प्रकार छानी (चलनी) सैकड़ों मन आटा छानने पर भी जरा भी सार अपने पास नहीं रखती केवल चौकर-चौकर ही रखती है और इसी प्रकार जैसे लोहार की खालकी बनी हुई आग जलाने वाली धौकनी हवा खींच-खींच कर आग प्रज्वलित करती हुई, दूसरोंको तपाने दाब देनेके लिए ही श्वास लेती है एवं जैसे कोई अन्नके लिए भूसाको कूटता है ।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही सुन्दर धोबीके लड़के की तरह ये जीव भी देवदुर्लभ नर-तन प्राप्त करके व्यर्थ घरवार, कुटुम्ब-कबीलारूपी कपड़ोंके बनानेमें ही दिन-रात लगाता हुआ अपना अमूल्य जीवन खो देता है। भगवानकी प्रेमपूर्वक भक्ति करना जो इसका मुख्य कर्त्तव्य था भूलकर नर-जन्मको निःसार बना देता है। अथवा वैसे ही यह जीव कायारूपी छानीसे जीवनरूपी आटेको छानकर साररूप आटा ईश्वरभक्ति निकालकर नाना कुकर्मरूपी चौकरको ग्रहणकर जीवन-व्यर्थ कर देता है। व ठीक लोहार की धौकनी की तरह साँसें भर-भरकर दूसरोंको दुःख दे-देकर निरर्थक अपना जीवन खो देता है। इसके ये कार्य ठीक ऐसे ही हैं जैसे कोई अन्नके लिए भूसाको कूटे। भूसेमें अन्न कहाँ। यानी व्यर्थ है।

उपरोक्तानुसार यह भगवानका नाम न लेकर जीवन इस तरह खो देता है जिस तरह निकाली हुई श्वास फिर वापिस नहीं आती। अथवा इस कायाको श्वासकी तरह छोड़ना पड़ता है जैसे कोई श्वासको रोक नहीं सकता, विवश छोड़ना ही पड़ता है। श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि बिना भगवत्-प्रेमनेमके इसका जीवन अन्तमें सेमरके पके-फलकी तरह व 'धोबी बेटा चाँद सो सी-सी और फटाक' की तरह हो जाता है।

टिप्पणी—सी सी और फटाक—कपड़े कचारते (फीचते धोते साफ करनेके लिए पत्थर पर पटके जाते) समय धोबी अपने मुंहसे सी-सी शब्द निकालता है अनन्तर कपड़े पत्थर पर पटकने की आवाज आती है तो दूरसे यही दो आवाजें सुनाई देती हैं कि 'सी-सी और फटाक' जिससे मालुम पड़ता है कि तालाब वगैरहमें धोबी कपड़े धो रहा है।

टिप्पणी—सेमर फूले पाक—सेमर एक वृक्ष होता है उसका जब फूल आता है तो यह फूल-फूलते समय बड़ा-सुन्दर चित्ताकर्षक होता है। जिसे देख-देखकर तोते वगैरह पक्षी उसके निकट आकर फल की आशा उसके पकने की आशा करते-करते उसकी रक्षा करते है। किन्तु जब वह पकता है उस समय उस फलमें चोंच मारते ही चोंच टूट जाती है और उसके अन्दर केवल तकियोंमें भरने वाले 'भुहे' (रुईके छोटे-छोटे धुनके हुए टुकड़ेकी तरह) ही निकलते हैं। जिसे देखकर यह पक्षी पछता-पछताकर रह जाते हैं कि व्यर्थ मैंने आशा लगाकर इसकी रक्षा की मेरा समय व मेहनत बिलकुल व्यर्थ गया।

भजन बिन बावरे ! तैंने हीरा सो जनम गँवायौ।
यह संसार पेड़ सेमर को सुगना देखि लुभायौ।
मारी चोच रुई जब निकसी सिर धुनि धुनि पछितायौ।
आदि—

कूआँ में को मेडुका कहै समुद्र की बात।
कहे समुद्र की बात ऊपर की खबर न पावै।
करै हंस सों होड़ अल्प जिय में इतरावै।
बुधि विवेक बलहीन सदा कूआँ को बासी।
मुक्ता चुगे मराल करै शठ ! ताकी हांसी।
'अग्र' अनामत पलकमें चक्षुश्रवा गिलिजात।
कूआँ में को मेडुका कहे समुद्र की बात।।५५।।

शब्दार्थ—होड़=शर्त, बाजी। इतरावै=घमण्ड करना। मुक्ता=मोती। चुगे=खावे। अनामत=व्यर्थ। चक्षुश्रवा=सर्प। गिलिजात=निगल जाता है।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे कुआँ का रहने वाला मेढ़क जो कुएँके ऊपरकी बातोंसे भी अनभिज्ञ हुआ रहता कि कुएँके बाहर क्या है व क्या नहीं अथवा क्या-क्या हो रहा है इत्यादि—समुद्रके विषयमें बढ़-बढ़कर लम्बी-चौड़ी बातें कहनेके लिए उद्यत् हो जावे और स्वयं बल, बुद्धि शून्य, जरासे जीवन वाला सदैव कुएँमें ही रहकर अपनी जरा-सी टेंटेंकी आवाज पर बड़े अभिमानसे इतराते हुए, मूर्ख ! मानसरोवरमें रह मुक्ता चुगने वाले हंसकी बराबरी कर उसकी बोलीके आवाजकी हँसी उड़ावे। ये न समझकर कि मैं यकायक एक क्षणमें सर्प द्वारा निगल लिया जाने वाला हूँ। वहाँ मेरी यह टें-टें एक भी न चलेगी। मैं क्या 'नन्हें मुंह बड़ी बात करता हूँ' इत्यादि।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही भवकूपमें पड़ा हुआ ये जीवरूपी कूपमण्डूक अपने संसारके बाहरकी ही बातोंसे अनभिज्ञ लोकान्तरका भी हाल न जानते हुए—समुद्र की बातें अर्थात् त्रिपाद विभूतिकी बातें बढ़-बढ़कर कहने लगता है। केवल गप्पीकी तरह बकने लगता है क्योंकि ये उसका स्वाद क्या जाने। जैसे—

काम क्रोध लोभादि रत ग्रहाशक्त दुःख रूप।
ते किमि जाने रघुवरहिं मूढ़ ! परे तम कूप ॥

जिस विभूति की व्याख्या करनेमें कोई समर्थ नहीं, उसे सहजमें ही बड़े गर्वके साथ कूप-मण्डूक की तरह टें-टें करता हुआ बकने लगता है। और अपनेको बड़ागुणी समझता है। जैसे—

मन समेत जेहि जान न बानी। तर्क न सके निगम अनुगामी ॥

उसे कहता है कि हम जानते हैं।

स्वयं ज्ञान, बल, बुद्धिरहित महापापी, प्रभुमिलन साधन छीन, सांसारिक त्रितापोंमें जलता हुआ, अपनेको परमसुखी, सर्वगुण सम्पन्न मानने लगता है। इस तरह दुष्ट अपनेको बड़ा धर्मध्वजी समझकर श्रीरामचरित मानसरोवरके निवासी गुणरूपी मुक्ता चुनने वाले श्रीरामभक्त हंसरूप साधुजनोंकी बराबरी कर अपने व्यंग बचनोंसे उनकी तर्कना करता हँसी उड़ाने लगता है। 'कि वाह! साधुओंमें सिवा कष्ट सहकर भजन करनेके यानी दु:खमय जीवन बितानेके और क्या रखा है वह संसारी सुखोंको क्या जानें'। ये उसका कहना ठीक इस प्रकारके ही है जैसे कि पत्थर खाने बाला हंस सेवार कीटादिके स्वादको क्या जाने।

श्रीस्वामीजी कहते हैं कि ये जीवरूपी मेढ़क ये नहीं सोचता कि मैं एकक्षणमें कालरूप सर्पके गलेमें जाने वाला हूँ जहाँ मेरी यह अज्ञान चातुर्यकला न चल सकेगी और न ये संसारीसुख काम देंगे। मैं क्यों इतनी बढ़-बढ़कर छोटे मुंह बड़ी बात वाली कहावत चरितार्थ कर रहा हूँ। इत्यादि

सारांश ये है कि व्यर्थ बकवादमें कुछ नहीं रखा जीवनको जहाँ तक हो भगवत्—भजनमें लगानेसे ही कार्य चलेगा।

टिप्पणी—चक्षुश्रवा=आंखसे ही सुनने वाला सर्प। कहा जाता है कि सर्पके कान नहीं होते। वह सुनना व देखना, दोनों कार्य आंखों द्वारा ही करता है अत: उसे चक्षुश्रवा कहते हैं।

इसके प्रमाणमें एक दोहा सुना जाता है। जो संसार प्रसिद्ध मुगलकालीन स्वनामधन्य श्रीतानसेनजी गायनाचार्यके विषयमें प्रशंसा-सूचक है।

दोहा—काहे बिधना नहि दिये शेषनागको कान ।
धरा भरा सुन डोलतो सुन तानसेन की तान ।।

अतः मानना पड़ता है कि ठीक है प्रकृतिसे उसके कान न भी बने हों किन्तु यह जिस अनुभवसे शब्दकी ओर आकर्षित होता है उसके लिए वही कान मानने पड़ेंगे ये हो सकता है कि प्रत्यक्षकान उसके शरीरमें न हों । अतः उसका चक्षुश्रवा कहलाना यथार्थ ही है—

माँगे भैंस रुँगावनी करे पड़ा को मोल ।
करे पड़ा को मोल आन धर्मनि को दीसे ।
चढ़ि पाथर की नांव पार को गोड़ा घीसे ।
जानि बिसाहे प्याज स्वाद अमृत को चाहे ।
करि जंजड़ाको बनिज क्रोड़ क्यों उपजे लाहे ।
'अग्र' कहे रचि पचि कियो भयो मेडुका जोल ।
माँगे भैंस रुँगावनी करे पड़ा को मोल ।।५६।।

शब्दार्थ—रुँगावनी=मुफ्तमें, वैसे ही, किसी चीजके साथ-साथही । गोड़ा=पैर । घीसे=घिसा करें । बिसाहे=खरीदे क्रोड़=करोड़ । लाहे=लाभ । जोल=पूंछ, दुम । रचि पचि=हैरान होकर ।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे कोई पड़ा खरीदते समय भैंसको रुँगावनीमें, यानी मुफ्तमें पड़ाके साथ माँगे तो यह उसका मांगना कितना लज्जाजनक तथा बेतुका है । पड़ाके साथ भैंस मुफ्तमें मिल सकती है ?

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही यह जीव तृष्णायुक्त होकर पड़ारूप सारे जगत्को खरीदकर अपना बनाना चाहता है । साथ ही सुख,

शान्तिरूपी भैंसको रुँगावनीमें मुफ्त लेना चाहता है। जो सर्वथा असंभव है। अर्थात् जिस प्रकार पड़ा खरीदनेसे भैंस मुफ्तमें नहीं मिल सकती और न घी-दूधरूपी सुखशान्ति प्राप्त हो सकती है।

वैसे ही संसारी ठाटबाट बहुत ही बढ़ जानेसे सुखशान्ति की संभावना नहीं है। ये तो जितना ही बढ़ता जायगा उतनी ही तृष्णा उसके और अधिक प्राप्त होनेकी बढ़ती ही जायगी और अन्तमें यही कहना पड़ेगा कि 'बड़ा झंझट है' और जीवन दु:खमय ही प्रतीत होगा।

इसी तरह ये जीव पड़ा (संसार) का मोल करता हुआ अपने (कर्त्तव्य) धर्मको नहीं देखता कि क्या हमको ऐसी भैंस मांगनेकी अनाधिकार चेष्टा करनी चाहिए ? अर्थात् जगत्को लेकर सुखशान्तिके पानेकी चेष्टा करनी चाहिए। क्योंकि ये जीव अपने कर्त्तव्य एवं धर्मको न देखकर दूसरोंके कर्त्तव्य-धर्म की नुकताचीनी करता है। कि उसे ये न करना चाहिए, वह न करना चाहिए। अपने धर्म-कर्मकी ओर तो आंख उठाना ही नहीं जानता है, कि मुझे क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए। इसके समस्त कार्य ऐसे ही असंभव हैं यह पत्थरकी नाव पर बैठ अपने पेर घसीटकर ही जगसागर पार जाना चाहता है। जो सर्वथा असंभव है। ये प्याज तो खरीद लाता है और उसमें अमृतके स्वादका अनुभव करना चाहता है। ये कुंजड़ा सागपातका व्यापार करके करोड़पति बनना चाहता है। बतलाइये उसमें करोड़ोंका लाभ कहाँसे हो सकता है।

कहनेका तात्पर्य ये है कि ये वह काम ही नहीं करता है, जिससे सुखशान्ति प्राप्त हो। सब उलटे व्यर्थके काम

करता है जो असंभव है। ऐसे कार्य करके कोई कैसे पार पा सकता है।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि ये जीव, अति व्याकुल हो नाना प्रकारके कष्ट सहनकर, अनेकों तरहसे अनेकों काम करता हुआ, उनमें पच-पचकर पस्त होता रहता है और जब देखता है कि वे सब काम व सारी–मेहनत, मेढ़ककी पूंछके समान व्यर्थ दिखाई पड़ती है। क्योंकि इसके सब काम सांसारिक मायाजालमय हैं। जिनमें सुखशान्ति कहाँ वे सब ऐसे ही बेतुके व हँसने योग्य हैं जैसे पड़ाके मोलमें रुँगावनीमें कोई भैंस माँगे।

टिप्पणी—आन धर्मनि को दीसे—दूसरोंके कर्त्तव्य की आलोचना खूब बना-बनाकर करना जानता है। ये अपनी तरफ गौर नहीं करता कि हमारे क्या यही कर्त्तव्य हैं। हमारे लिए तो वही कानून है जो हम सबके लिए लागू करते हैं। कहनेका तात्पर्य ये है कि ये दूसरोंको बनाना खूब जानता है।

टिप्पणी—चढ़ि पत्थर की नाव पार को गोड़ा घीसे—ईश्वर विमुखतारूपी पत्थरकी नाव पर चढ़ मायाजालमय कर्त्तव्य करता हुआ संसारसे पार होना चाहता है। ये सभी बातें न होने वाली हैं। ये जीव इतना मूर्ख है कि समझाये नहीं मानता। कहीं पत्थरकी नाव तैर सकती है, कहीं पैर घसीटनेसे मंजिल तय हो सकती है। सभी बातें असम्भव हैं।

पहले तो पत्थरकी नाव ही काफी थी फिर दूसरा बढ़िया योग गोड़ेका दिया गया। इतने पर भी यदि पार न हो तो विचारा जीव क्या करे। यदि और कोई उपचार बाकी होता तो इसमें वह भी कर डालता। अब आपही बतलाइये कि वह अब भी भाग्यको दोषी न ठहराये तो क्या करे।

कहने का सारांश यह है कि ईश्वर-भजन किये बिना अपने कर्त्तव्यसे संसारसे मुक्त होना असम्भव है। आशा इसका भ्रम है। ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

बिना हरि भजन न भव तरिय, यह सिद्धान्त अपेल।

टिप्पणी—भयेउ मेडुका जोल—कहते हैं जब मेढ़कका बच्चा पैदा होता है तो उस समय उसके बड़ी लम्बी पूंछ-सी होती है ज्यों-ज्यों वह बढ़ने लगता है त्यों-त्यों वह पूंछ छोटी होती जाती है। यहाँ तक कि ज्योंही वह अपने रूपमें आ जाता है उसके पंजे ४ पाँव निकल आते हैं। उस वक्त वह पूंछ बिलकुल गिर जाती है और वह फिर निर्द्वन्द जल-थलमें विचरने लगता है। पूंछ बिलकुल व्यर्थ हो जाती है और जब तक यह उसके लगी रहती है तब तक वह (पंजेरहित होकर) वहीं कीचड़में बिल-बिलाता रहता है।

श्रीस्वामीजीके कहनेका मतलब यह है कि उपरोक्तानुसार जीवन-व्यतीत करना इसी मेढ़के की पूंछकी ही तरह है। जब तक पूंछ (जीवन) रही तब तक कीचड़ संसारी यातनाओंमें रहा और ज्योंही पूंछ निकल गई (मृत्यु हो गई) तो कर्मानुसार थल जल सबमें चलने लगा (अपने सूक्ष्मरूपमें आ गया।

गई बात रे पाहुने घी दे आनो तेल।
घी दे आनो तेल पहर जब पाछिल बीतो।
हरि भजिवे की बाट तहाँ ते रहि गयो रीतो।
जान न कियो बिसाह हरी बिन रूखो खायो।
किय न सनेही श्याम भजन बिन जन्म गँवायो।
'अग्र' कहै हरिभक्ति बिन ह्वैगे हाँसी खेल।
गई बात रे पाहुने घी दे आनो तेल॥५७॥

शब्दार्थ—बात=इज्जत, सम्मान। बाट=रास्ता, राह रीतो=रिक्त, खाली। रूखो खायो=दुःख उठाया। पाहुने=अतिथि, मेहमान।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि हे पाहुने! तूने अपनी बात खो दी है। तूने मूर्खतावश एक तो घीके बदले तेल लिया। दूसरे अखीर रातमें लिया जबकि रात करीब बीत ही चुकी थी। ये ठीक नहीं किया।

(दार्ष्टान्त)—श्रीस्वामीजी जीवरूपी पाहुनेसे कह रहे हैं कि हे जीव! तू इस जगत्‌में पाहुनेके रूपमें अपना नर-जन्म सफल करने आया था। यहाँ आकर तू मायाके चक्करसे छूटनेके बदले उसमें और जकड़ गया है। यह तूने ठीक नहीं किया। तूने अपने जीवनरूपी घीको मायारूपी तेलसे बदल दिया है। तूने अपनी सारी-पूंजी ही बरबाद कर डाली है। इसके अतिरिक्त एक और बड़ी गलती यह की है कि तूने ये सौदा ऐसे समयमें किया है कि जब जीवन रात्रिरूपी हाटका ये उठनेका समय आया है। तूने अपनी जीवन रात्रिका पहला प्रहर तो खेलकूदमें दूसरा विषयान्ध हो खो दिया। तीसरा यह जिसे तूने अपने विचारसे ही भगवत्-भजनके लिए रखा था क्योंकि जब कभी मायाके चक्करसे तू विकल होता था तो तुझे कुछ चेत होता था। तब तू कहा करता था कि समय आने दो बुढ़ापेमें अवश्य भजन करूँगा क्योंकि वह वक्त ही भजन करनेका है। इत्यादि—सो भी इन्द्रिय विवश होकर खो रहा है। अब न वह शक्ति है और न वह मन ही, क्योंकि विषय अभ्यस्त होनेसे विषयलोलुप हो गया है। अतः ये तीसरा प्रहर भी गया। इस तरहसे अन्तमें तू बिलकुल खाली ही रह गया है।

क्या किया जाय तूने जान-मानकर ही भजन नहीं किया और न भगवानको अपना बनाया न उनका बना। जिसके कारण अनेकों कष्ट सहे और आगेके लिए भी दुःखका बीज बोया। क्योंकि तूने भगवत्-प्रेमसे मनुष्य-जीवनको सरस नहीं बनाया। इस तरह रूखा खाकर ही जीवन खोया। जिसमें एक तो तुझे जीवनका स्वाद भी न मिला। दूसरा रूखा खाकर आगेके लिए भी कमजोर हो गया।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं—हे जीव ! केवल भगवत्-भक्ति के बिना ही ये तेरा जीवन हँसीखेल हो गया है क्योंकि तूने घी के बदले तेल लेकर अपनी दर खो दी है।

टिप्पणी—ह्वै गयो हाँसी खेल—भगवानके भजन बिना जीवन नष्ट कर देनेसे आवागमनका चक्कर पड़ जाता है जिसमें जीव सुकृत बिना अनेकों कष्ट सहता हैं। जिसे संसारी लोग देख-देखकर हँसते हैं। इस तरह जीव तो दुःख उठाता है और उसे देखकर लोग हँसते हुए उसे खेल-तमाशा बना लेते हैं। उन्हें उस जीवन पर दया नहीं आती। वह उनके दिल बहलावका कारण बनता है। अतः यहाँ पर स्वामीजी जीवको उपदेश देते हैं कि हे जीव ! क्यों हरी-भजन नहीं करता क्यों अपना जीवन हँसी, खेलमें खोकर, हँसी-खेल बन रहा है। जरा विचारकर इत्यादि—

थारा घालो घर गयो कांदा खादी रांड।
कांदा खादी रांड भला तै संग ले कीन्हों।
इक दमरी के पान चौहट्टे पर घर कीन्हों।
हँसे बटाऊ लोग सुजन कोउ निकट न आवे।
मकटी लाजत नाहिं आपनो भरम गँवावे।

'अग्र' त्रिया मानै नहीं खोई घर की मांड ।
थारा घालो घर गयो कांदा खादी रांड ॥५८॥

शब्दार्थ—थारा=तेरा। घालो=नष्ट किया। कांदा=प्याज अभक्ष्य। खादी=खाने वाली। रांड=बिधवा, एक अपशब्द, गाली। बटाऊ=राहगीर। भरम=तत्त्व। मांड=मर्यादा।

भावार्थ—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जब अपने कर्त्तव्यों, कर्त्तव्यका विचार होकर अपनी दशाका ज्ञान होता है। उस समय इसे बड़ी ग्लानि तथा शोक होता है तब उसके मायाके प्रति ये विचार उत्पन्न होते हैं। वह कहा करता है। कि 'हे अभक्ष्य भक्षा माया रांड ! तूने मेरा सारा घर उजाड़ डाला। तूने मुझे अपने संग लेकर क्या ही भला किया कि मुझे बिलकुल बरबाद ही कर दिया। इस तरह पश्चात्ताप करता हुआ वह दुःखित हो उसकी मक्कारी प्रकट करता हुआ कहता है तू बड़ी मायाविनी है। एक दमरीके पान लेकर चौहट्टे पर बैठकर भोलेभालोंको फँसाकर उनका धन ठगती है। अर्थात् तुच्छ विषयादकोंसे अन्तःकरण चतुष्टय पर बैठकर जीवोंको फँसाकर उनका जीवन ठगती है। अथवा जिस प्रकार तमोलिन चौहट्टे पर बैठकर मुसाफिरोंको पान देकर पैसा बनाती है। लेती तो पैसा है और एक दमरीका भी माल नहीं देती है।

यही दशा तूने (मायासे) मेरी की है। देख, मेरी-तेरी दशा देखकर परमार्थ पथ-पथिक सन्तजन हँसते हुए चले जाते हैं। कोई भी सज्जन हम दोनोंको पतित समझ मेरे पास तक नहीं आते। क्योंकि हम दोनोंके कर्त्तव्य देख दोनोंको ही धिक्कार देते हुए अपने रास्ते चले जाते हैं।

तू माया इतनी निर्लज्जा है कि तुझे अपना न मेरा सब तत्व गँवाकर भी लज्जा नहीं आती कि अब भी हमें छोड़ दे। अब तेरी सारी-शरारत मैं समझ चुका हूँ। तेरी सारी पोल अब खुल चुकी है। तू अब मेरा पिण्ड छोड़ दे।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं। इस तरह पश्चात्ताप करता हुआ जीव अन्त-समयमें मायाको बुरा-भला कहकर अपनी मूर्खता पर शोक-प्रकट करता है और कहता है कि इस मायाने मेरी व मेरे घरकी सारी मर्यादा खो दी है। मुझे बिलकुल लूटकर बरबाद ही कर डाला है और अब भी नहीं मानती कि मुझे अब भी छोड़ दे। इसने ही अपने फन्देमें फँसाकर मेरे लोक-परलोक बिगाड़ दिये हैं।

टिप्पणी—नकटी लाजत नाहि॥ देखिये कु० छ० ४३।

हा हा करे न छूटिये बैरी वश परि पाँय।
बैरी वश परि पाँय काल जब कोप करेगो।
तात मात सुत बन्धु धीर कोई न धरेगो।
औषधि दान औ पुण्य ताहि ते कछु नहि सरई।
होइ निराश बुध वैद्य उलटि पीछे पग धरई।
'अग्र' ऊबरे रामपद कै सन्तन की बांह।
हा हा करे न छूटिये बैरी वश परि पाँय॥५१॥

शब्दार्थ—वश=अधिकार, कब्जे। सरई=बनेगा। हा हा करे=विनती, अति विनम्रतायुक्त पैर वगैरह छूते हुए।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे जन्म के बैरीके कब्जेमें आ जाने पर चाहे उससे कोई कितना, हा-हा

करे, कितनी नम्रता दिखावे वह बिना बदला लिए नहीं छोड़ता।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही हे जीव ! जब तेरा *जन्मशत्रु-जीवन का अन्तकर देने वाला काल, जब तुझे अपने पूर्ण अधिकारमें करके तेरे पर क्रोध करेगा। तब वहाँ तेरी किसी प्रकार भी न चलेगी वह तेरे जीवनका अवश्य अन्त कर देगा।

उस समय तेरे समस्त कुटुम्बी—माता-पिता, पुत्र, भाई वगैरह तेरेको धैर्य तक न धरा सकेंगे। बचाने की तो बात ही क्या है। साथ ही तेरी ऐसी दशा देख स्वयं धीर न धर सकेंगे। दूसरेकी तो कोई क्या कहे। उस समय अनेकों प्रकारकी रसादिक औषधियाँ भी कोई काम न निकाल सकेंगी। न तू कालसे बच पायेगा। यहाँ तक कि औषधियोंके देने वाले डाक्टर, वैद्य, गुणी व दान-पुण्य कराने वाले पण्डितादिजन भी तेरी ऐसी कालग्रस्त अवस्था देख उलटे पैर लौट जायेंगे।

अतः श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव ! यदि तू काल से बचना चाहता है तो तू श्रीसीतारामजीके चरण-कमलोंका आश्रयावलम्बी बन, किसी श्रीसन्त सद्गुरुके द्वारा उनके शरण हो उनसे भगवत्भक्ति प्राप्तकर। क्योंकि—

आई मीच हटत जपन्त हरिनाम के। (श्रीगोस्वामीजी)

दूसरे आवागमन नष्ट करने वाला यही एकमात्र सरल उपाय है जो मृत्युसे बचा सकता है अन्यथा नहीं। अस्तु—

---

*पैदा होते ही मौका देखने वाला। क्योंकि पैदा होते ही अपना काम शुरू कर देता है।

टिप्पणी—❀कै सन्तन की बाँह। कहीं-कहीं गै सन्तन की बाँह भी पाठ है स्वामीजी यहाँ भगवत्-भक्ति जो सब अविद्याको नाश कर जीवको भगवत्से मिला देने वाली है, उसकी प्राप्तिका मार्ग बतलाते हैं कि भक्ति केवल सन्तोंकी छत्रछायामें आनेसे ही मिलती है। इसके बिना इसकी प्राप्ति ही नहीं। जिन जीवोंने सन्तोंका आश्रय ग्रहण किया व उनकी बाँहका ही भरोसा रखा वे निःसन्देह अपने कार्यमें सफल हुए। देखिये—

सब कर फल हरिभक्ति सुहाई।
सो बिन सन्त न काहू पाई॥ (श्रीमानस)

क्योंकि इसलिए कहा है—

सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नाहीं।
सन्त मिलन सम सुख कछु नाहीं॥
(श्रीमानस)

अब ये प्रश्न होता है कि जब श्रीभगवान और श्रीसन्तमें अन्तर ही नहीं तो वह कौनसे ऐसे दिव्यगुण हैं जो जीवको भगवानके समानपद पर बैठाकर 'सन्त'! ऐसे नाम विभूषित करवा सकते हैं। जो जीवको संसारसे मुक्तकर परमानन्द प्राप्त करवा सकते हैं—

एकबार इसी 'सन्त' शब्दको जाननेके लिए श्रीनारदजी ने भगवान श्रीरामजीसे अपनी इच्छा प्रकट की थी। जिसके उत्तरमें श्रीमुखवचन निम्नलिखित है—

सुन मुनि संतन के गुण कहऊँ। जेहि ते मैं उनके बश रहऊँ॥

❀गहना, पकड़ना ❀या, कह दोनों एक अर्थके द्योतक हैं किन्तु गै अधिक उपयुक्त है।

षट विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन शुचि सुख धामा।
अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्य सार कवि कोविद योगी।
सावधान मानद मद हीना। धीर धरम गति परम प्रबीना।

गुणागार संसार सुख, रहित बिगत संदेह।
तज मम चरण सरोज प्रिय, तिन कहँ देह न गेह॥

निज गुण श्रवण सुनत सकुचाहीं। पर गुण सुनत अधिक हर्षाहीं।
सम सीतल नहि त्यागहि नीती। सरल स्वभाव सबहि सन प्रीति।
जप तप व्रत दम संयम नेमा। गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा।
श्रद्धा क्षमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया।
बिरति विवेक विनय विज्ञाना। बोध जथारथ वेद पुराना।
दम्भ मान मद करहि न काऊ। भूलि न देहि कुमारग पाऊ।
गावहि सुनहि सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत शीला।
सुन मुनि साधुन के गुण जेते। कहि न सकहि सारद श्रुति तेते।

यही प्रश्न श्रीभरतजी महाराजका था जो उन्होंने श्रीरामजी से श्रीहनुमानजी द्वारा पूंछा था और श्रीरामजीने श्रीमुखसे उत्तर दिया—

संतनके लक्षन सुन भ्राता। अगनित श्रुति पुराण विख्याता।
सन्त असन्तन कै अस करनी। जिमि कुठार चन्दन आचरनी।
काटे परशु मलय सुनु भाई। निज गुन देय सुगन्ध बसाई।

ताते सुर सीसन्ह चढ़त, जग बल्लभ श्रीखण्ड।
अनल दाहि पीटत घनहि, परशु बदन यह दण्ड॥

विषय अलंपट शील गुणाकर। पर दुःख-दुःख सुख-सुख देखेपर।
सम अभूत रिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी।
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया।

सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्राण सम मम तेइ प्रानी।
बिगत काम मम नाम परायण।शान्ति बिरति बिनती मुदितायन।
शीतलता सरलता मयत्री। द्विज पद प्रीति धरम जनयित्री।
ऐ सब लक्षण बसहिं जा उर। जानेहु तात सन्त सन्तन फुर।

निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पदकंज।
ते सज्जन मम प्राण प्रिय, गुण मन्दिर सुखपुंज ॥

इसी 'सन्त' शब्दका भावार्थ श्रीगरुड़जी महाराजने श्रीकागभुसुण्डिजीसे संक्षेपमें साथ ही साररूपसे समझाने की प्रार्थना की थी। इसके उत्तरमें उन्होंने ये कहा था—

पर उपकार वचन मन काया। सन्त सहज स्वभाव खगराया ॥
(श्रीमानस)

कितना हृदयग्राही स्पष्ट उत्तर है।

अतः सन्त महानुभाव ही एक ऐसे हैं जिनके सेवनमात्रसे जीव सब कुछ प्राप्त कर सकता है। देखिये—

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहांना।
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि यतन जहां जेहि पाई।
सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ।
(श्रीमानस)

इसीलिए कहते हैं कि—

सन्त सङ्ग अपवर्ग कर। (श्रीमानस)

एक तो सन्त सङ्ग बड़े भाग्यसे ही प्राप्त होता है किन्तु प्राप्त होते ही कार्य बन जाता है।

पुण्य पुंज बिन मिलहि न संता। सत संगति संसृति कर अंता ॥
(श्रीमानस)

चेरी लातन मारई दही गुसाँइन खाय।
दही गुसाँइन खाय काम खोटे सब मन के।
नीर कटोरी हरे सहे सिर झालर ठन के।
अशन दिवाली करे लकुट ले कूटत छाजै।
इन्द्री मनके अनुग देह दण्डहि किन काजै।
'अग्र' स्वामिके हाथ सब प्रभु सों कछु न बसाय।
चेरी लातन मारई दही गुसाँइन खाय ॥६०॥

शब्दार्थ—चेरी=दासी, गुसाँइन=मालकिन। खोट=खराब। अशन=भोजन। छाजै=सूपा। अनुग=नौकर। बसाय=बस, जोर।

भावार्थ— (दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे मालकिन तो चोरीसे दही खावे और चेरी इस अपराधमें (दही खा लेनेके) पैरोंसे पीटी जावे तो ये कहाँ का न्याय है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही इस जीवकी दशा है कि अपराध तो मनका है। ये न मालूम कहाँ-कहाँ भागकर भटकता फिरता है और इस तरह जीवनरूपी दही खा लेता है। किन्तु इस अपराध में कायारूपी चेरी बिना अपराधके दण्डित हो दुःख पाती है।

इसी तरह पानीमें पड़ी हुई कटोरी तो पानी चुराती है और बेचारी झालरके सिर मोगरी पड़ती है यानी झालर ठोकी जाती है। साथ ही, दिवाली तो अच्छे-अच्छे भोजन करती है किन्तु रातको सूपा लकड़ीसे पीटा जाता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियां तो मनकी आज्ञा मानने वाली हैं उनका क्या अपराध है परन्तु इस अपराधके कारण दण्ड कायाको भुगतना पड़ता है।

कहनेका मतलब यह है कि उक्त सब बातें उल्टी ही हैं इन सब बातोंका विचार करते हुए श्रीस्वामीजी कहते हैं कि इन बातोंको वही ईश्वर जान सकते हैं, हम इस पर क्या विचारकर सकते हैं। इस पर हम लोगोंका क्या उपाय। वह स्वतन्त्र हैं। वह सब कुछ कर सकते हैं। क्योंकि इसीलिये—

समरथको नहिं दोष गुसाईं। रबि पावक सुरसरिकी नाईं।
दूसरे, परम स्वतंत्र न सिरपर कोऊ। भावे मनहिं करहु तुम सोऊ।

और करे अपराध कोउ और पाव फल भोग।
अति विचित्र भगवन्त गति को जग जाने योग ॥

(श्रीमानस)

टिप्पणी—नीर कटोरी हरे—प्राचीनकालमें जब इस आधुनिक घड़ीका आविष्कार नहीं हुआ था। अथवा ये घड़ियां भारतवर्षमें प्रचलित नहीं थीं। उन दिनों घण्टे वगैरह ठीक-ठीक बजनेके लिए हमारे देशमें एक ये तरीका प्रचलित था। कि एक बड़े बर्तनमें पानी भरकर एक कटोरीमें बारीक छेदकर उस कटोरीको उस बर्तनमें डाल देते थे। धीरे-धीरे वह कटोरी उस बारीक छेदसे एक निश्चित समयमें पानीसे भरकर डूब जाती थी उस समय कटोरीके डूबने पर घंटा बजा दिया जाता था। इस तरह समयके घण्टे बजते या बजाये जाते थे। कहीं-कहीं ये तरीका अब भी प्रचलित है। इन घड़ियोंके चल जानसे ये बात अब केवल कहीं-कहीं जहाँ देहातकी झलक ज्यादा है वहाँ दिखाई पड़ती है। इसमें शक नहीं कि तरीका बहुत ही सुन्दर तथा सभी दिक्कतोंसे रहित है क्योंकि कम खर्चीला है।

टिप्पणी—लकुट ले कूटत छाजै—बहुधा देखा जाता है कि दिवालीको लोग अच्छे-अच्छे भोजन बनवा-बनाकर भगवान को भोग लगा अपने इष्ट-मित्रों तथा कुटुम्बादिके साथ, खाते हैं और दिन-भर तथा रातको आनन्दमें ही जागते हुए जुआ खेलते हैं। ये प्रथा सारे-भारतमें प्रचलित है।

इसी रातको यानी अन्नकूटके दिन ब्रह्ममुहूर्तसे पहले-पहले प्रत्येक घरोंकी सयानी स्त्रियां अपने-अपने हाथोंसे सूपा (छाजन) अनाज बनाने साफ करने वाला एक देशीयन्त्र, लेकर एकसाथ से उस सूपेको एक लकड़ीसे पीटती हैं और इस तरह पीटती हुई घरके हर कमरेमें हो आती हैं और फिर बिना बात किये हुए नहाने चली जाती हैं और जब स्नान कर लेती हैं। तबही वह बोल सकती हैं। भारतके कई प्रान्तोंमें ये प्रथा जारी है। कहते हैं इस प्रकार अशुभके निवारन, शुभके शुभागमनके लिए ही वे ऐसा करती हैं।

ज्यों-ज्यों भीजे कामरी त्यों-त्यों भारी होय।
त्यों-त्यों भारी होय विमुख जीवित बहुते दिन।
अधरम नितप्रति करे अधिक बोझिल अपनो तन।
शिश्न उदर सों काज लोक-परलोक न सूझै।
पहिर अविद्या कवच चित्त काहू नहिं बूझै।
'अग्र' कहे हरिनाम बिन तरि न सके भव तोय।
ज्यों-ज्यों भीजे कामरी त्यों-त्यों भारी होय ॥६१॥

शब्दार्थ—भीजे=भीगे। कवच=बख्तर, हृदय रक्षा। तोय=पानी, समुद्र। शिश्न उदर=भरन पोषण। बोझिल=भारी।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे-जैसे कमरी भीगती जाती है वैसे-वैसे ही उसका बोझा बढ़ता जाता है।

(**दार्ष्टान्त**)—वैसे ही भगवत्-विमुख जीव जितने ज्यादा दिन जीता जाता है, उतने ही प्रतिदिन अधर्म करते हुए अपनी कायारूपी कमरीको पापरूपी बोझासे भारी करता जाता है। अर्थात् दिनोंदिन उसके पाप बढ़ते जाते हैं और वह संसार-सागरमें उतना ही डूबता जाता है।

उसे अपना कर्त्तव्य केवल इन्द्रियोंके वशीभूत रहकर विषयानुरक्त हो उदर-पोषण करते हुए, मन प्रसन्न रखना ही समझ पड़ता है। जिसके लिए वह अनेकों दुःख उठाता हुआ भी प्राप्त करनेमें असमर्थ ही रहता है और होते-होते जीवन साफ करके न यहाँका ही रहता और न वहीं का। दोनों लोकोंको खो बैठता हैं। उसकी दशा ठीक ऐसी ही होती है कि 'दुविधामें दोनों गये, माया मिली न राम।' क्योंकि—

दुचित कबहुं परितोष न लहहीं। (श्रीमानस)

अतः वह इस संसारके सुखोंको ही सब कुछ समझ उनके लिए अपना जीवन खर्च करता है। जिससे उसको न ये ही ठीक तरहसे मिल पाता है, और आगेका कुछ उपाय न करनेके कारण अगला जीवन भी बिगड़ जाता है। ये अविद्या (माया, अज्ञान) कवचको अपने मनरूपी हृदय पर पहिन लेता है और अपने अन्तःकरण चतुष्टयको मायाजन्य अज्ञानसे ढँक लेता है। जिसके कारण उसके हृदयमें भगवत् सम्बन्धी उपदेश बाण नहीं पैठ पाते वह अपने लोक-परलोकके ज्ञानसे अनिभिज्ञ रह जाता है। कर्मरूपी लहरोंके कारण आवागमनके चक्रमें पड़ संसार-सागरमें

उतरता डूबता रहता है। क्योंकि अज्ञानके कारण वह इसकी निवृत्तिका उपाय किसीसे पूछना या सुनना तक नहीं चाहता।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि हे जीव! उक्त उपदेशको मानकर श्रीसीतारामजीकी शरण हो जा। क्योंकि संसार-सागरसे पार होनेके लिए इसके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है। बिना भक्तिसे तू इस दुःखदाई संसृतिसे नहीं छूट सकता।

आपुन जाय न सासुरे औरन को सिख देय।
औरन को सिख देय हियो अपनो नहि सोधे।
दिन प्रति कुमति कमाय ज्ञान औरनको बोधे।
निज तन आँखिन अंध गैल औरन उपदेशे।
भवजल पार भरोस पैर कछु सकत न लेशे।
'अग्र' आप स्वारथ सबै परमारथ पुज लेय।
आपुन जाय न सासुरे औरन को सिख देय।।६२।।

शब्दार्थ—सासुरे=ससुराल। सोधे=ठीक करे। बोधे=सिखावे। गैल=रास्ता। लेशे=रंचक जरा भी। पुज लेय=पुजा लेना, पूजा लेना।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे कोई स्त्री स्वयं तो ससुराल जावे नहीं और दूसरोंको ससुराल जानेका उपदेश करे तो ये कितना हास्यजनक है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही यह जीवात्मारूपी नारी अपने इष्ट-देवके धामरूपी ससुरालमें स्वयं तो जाकर रहती नहीं अर्थात् खुद तो अपने पतिरूप परमात्मासे प्रेमकर उनकी सेवा शुश्रुषामें

तत्पर हो उनका भजन करती नहीं है और दूसरोंको धामवासका उपदेश देकर परमात्माकी सेवा, स्मरण, भजनादि करनेकी शिक्षा देती है। दूसरोंको हृदय पवित्र रखनेको कहती है किन्तु पहले अपना हृदय सोधकर पवित्र नहीं करती।

स्वयं दिनोंदिन अज्ञानांध हो, कुमतिमें पड़, तरह-तरहके पाप कमाती हैं। किन्तु अपनी ओर जरा भी ध्यान न देकर दूसरोंके अवगुण निकाल-निकालकर, उनको ज्ञानोपदेश दे सुमार्ग पर चलनेकी शिक्षा देती है। जैसे कोई अन्धा स्वयं रास्ता न जानता हुआ दूसरोंको मार्ग बतलावे। ऐसे ही ये जीव दूसरोंको तो मुक्तिमार्गका बोध करवाता है और आप स्वयं उस मार्गमें स्थित नहीं होता है। इस तरह बातों-बातोंमें धर्म सिद्धान्तोंको केवल बककर धर्मध्वजी बनता है पर हृदयमें उन सिद्धान्तों पर जरा भी प्रेम नहीं रखता।

जैसे किसीको तैरना तो आता नहीं, पर समुद्र पार जाने की वह आशा रखे तो उसका ये भरोसा रखना केवल व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक, कष्टकारी है क्योंकि वह अवश्य एक न एकदिन डूबेगा।

वैसे ही ये जीव संसार-सागरमय प्रपञ्चरूपी जलमें भगवत् सम्मुखता तथा धर्म, कर्म सुकृतरूपी तैरनेके बिना पार जानेका भरोसा रखता है जो सर्वथा भ्रमपूर्ण तथा अति कष्टकारी है।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि इस प्रकार जो स्वयं अपने भ्रमपूर्ण स्वार्थोंमें प्रवृत्त हो, दूसरोंसे अपनेको पुजाकर परमार्थ का उपदेश करता है, उसके उपदेशको कोई नहीं मानता है और न मान ही सकता है। क्योंकि कहनेसे उतना प्रभाव संभव

ही नहीं जितना स्वयं आचरण द्वारा कर दिखानेसे होता है। देखिये—

बेद कहै सो पुत्र हमारा, ज्ञान कहे तो नाती।
रहनी रहे सो गुरू हमारा, हम रहनी के साथी ॥
(श्रीकबीरजी)

कंथा डारी कांध पर जोगी काको मीत।
जोगी काको मीत हंस तजि चलो शरीरे।
निर्मोही अति निठुर कहा जाने पर पीरे।
माया धूनी मूक चलो रावल चौरासी।
जहाँ जाय तहँ कुटत फेर नहिं यहि पुर आसी।
पूरबके रोवत रहे 'अग्र' उत्तरके चीत।
कंथा डारी कांध पर जोगी काको मीत ॥६३॥

शब्दार्थ—कंथा=गूदड़ी, कथरी, चिथड़ोंसे बना हुआ फकीरोंके ओढ़नेका वस्त्र। कांध=कन्धे पर। पीरे=दूसरोंका दुःख। हंस=जीवके लिए प्रयुक्त हुआ है। धूनी=फकीरोंकी आगकी अँगीठी। रावल=रामतको, घूमनेको। आसी=आता है। कुटत=पिटत। चीत=चैनमें। मूक=मौन।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे कन्धे पर अपनी गूदड़ी डाल, चल देने वाला योगी किसीका मीत नहीं होता है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही यह हंसरूपी जीवात्मा योगीकी तरह अपने कर्मरूपी गूदड़ीको लेकर शरीररूपी आसनको छोड़ चल देता है। किसीका भी मीत नहीं होता है। कहा है 'रमता

योगी किसका मीत' यह जीव निर्मोही और बहुत निर्दयी है। यह दूसरेके दु:खको क्या जाने। जब यह आता है तो अपनी मायारूपी धूनी रमाता है अर्थात् सबसे नेम प्रेमकर नाना प्रकारके व्यवहार बढ़ाता है और जिस प्रकार योगी अपने मतलबके सामानको संग्रह रखता है उसी प्रकार ये भी तन धनधाम, कुटुम्ब-कबीला वगैरहका संग्रहकर और फिर अन्तमें योगीकी तरह बिना बोले ही अपना समस्त संग्रहरूप उक्त चीजें छोड़कर ८४ लाख योनियों की ओर भ्रमण करने चला जाता है। जहाँ-जहाँ यह जाता है योगियों की तरह कर्मानुकूल स्थान बना-बनाकर रहता जाता है। यह फिर लौटकर अपने पूर्व स्थानोंको नहीं आता है। यानी ये अपने कर्मों द्वारा मनुष्य योनिको फिर नहीं प्राप्त कर सकता है और जहाँ-जहाँ जाता है, नाना-प्रकारके संग्रहके लिए बड़े-बड़े कष्ट सहकर प्राणपनसे उसकी प्राप्ति की कोशिश करता है यही इसका पिटना है। क्योंकि इसमें अपनी कायाको खूब घोटता है। जिससे उसको कष्ट होता है।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि यह जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ मेल-मिलाप कर सबको अपने मोहमें फांस, कठोरता धारण कर निर्मोही बन, चल देता है तब उस स्थानके लोग रोते ही रह जाते हैं और जहाँ जाता है वहाँ वाले चैन मनाने लग जाते हैं। किन्तु जैसे वह पूर्वका मीत नहीं होता वैसे ही इसका भी (जहाँ जन्म लेता है। मीत न हो चल देता है मर जाता है) ठीक उसी प्रकार कि योगी चल देता है।

टिप्पणी—जहाँ जाय तहँ कुटत—जीव जहाँ-जहाँ जन्म लेता है उसको जन्म-मरणके असह्य कष्ट भुगतने ही पड़ते हैं।

क्योंकि जो मौका इसको इस कष्टसे छुड़ानेकी कोशिश करनेके लिए दिया गया था, वह तो इसने मायाके चक्करमें फँस हाथसे निकाल दिया। यानी भगवत्भक्ति कर संसृतिको नहीं नष्ट किया। अपने ही हाथसे जान-बूझकर अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मार ली। यानी ८४ लाख योनियोंके चक्कर काटनेका प्रयत्न किया और यही इसको फल मिला। अब यहाँ वह स्वयं दुःखी होता हुआ मारा-मारा फिरता है और जो इसे टिका लेते हैं, अथवा जिसके यहाँ टिक जाता है उसके यहाँ उनको अनेकों कष्ट देता हुआ चल देता है। तो वे बिचारे वियोगके दुःखसे दुखित हो जाते हैं। इस तरह यह मारा-मारा दुःख उठाता हुआ योगीकी तरह फिरता है। जहाँ रहनेके लिए घरबार बनाता है वहींसे निकाल कर दूसरी जगह डाल दिया जाता है। जिससे ये कहीं शान्ति पूर्वक नहीं रह पाता। बल्कि हर जगह कष्ट ही कष्ट उठाकर अपनी कायाको घोटता हुआ पिटता रहता है।

तेरे हूँ दिन बाहरे पीपर तरके देव।
पीपर तरके देव सेव तेरी को करतो।
चिड़िया चिमरी गीध काग वकि हग-हग भरतो।
एकदिन ऐसो भयो आन मेल्यो ग्रह माहीं।
चोवा चन्दन चर्च पवन तहँ झंपे नाहीं।
'अग्र' कहे दिन बीसरे सिर बिष्टा को लेव।
तेरे हूँ दिन बाहरे पीपर तरके देव ॥६४॥

शब्दार्थ—सेव=सेवा, खुशामद। हग-हग=हट्टी करने वाला। मेल्यो=रक्खा। चोवा चन्दन=पूजा अरजा। विष्टा=मैला। झंपे=जोरसे हवाका झोका आना।

भावार्थ—श्रीस्वामीजी ❀एक समय कहीं देशाटन करते हुए जा रहे थे। रास्तेमें एक पत्थरकी मूर्तिको एक पीपलके वृक्षके नीचे वैसे ही पड़े देखते चले गये। किन्तु जब वे लौटकर उसी रास्तेसे निकले तो क्या देखते हैं कि वहीं उस वृक्षके नीचे एक बढ़िया मन्दिर बन गया है जिसमें वही मूर्ति विराजमान है। अब हर एक वहाँ जा नहीं सकता, पूजा-सेवा एवं भोगराग वगैरहका अच्छा इन्तजाम है। इत्यादि—

ये देखकर वह बड़े प्रसन्न हुए पूछने पर ज्ञात हुआ किसी धर्मात्मा सेठकी कृपाका ये प्रतिफल है।

(दार्ष्टान्त)—उसी घटनाको दृष्टान्तरूपमें लेकर स्वामीजी जीवके प्रति उपदेश देते हुए कहते हैं। कि वाहजी वाह ! हे ! पीपरके नीचेके देव ! तेरे भी खूब दिन फिरे। उस समय तेरी सेवा करने वाला कौन था ? जिस समय तमाम पक्षी, चमकादड़ गीध, कौवे, बगुले वगैरह यानी पीपल पर बैठने वाली चिड़ियों, की बीट तेरे सिर पर गिरा करती थीं। वाह ! उस परमात्माको धन्य है जिसने तेरे भी दिन फेरे और एकदिन ऐसा आया कि तू ऐसे सुन्दर भव्य मन्दिरमें बैठा और इस तरह सब प्रकारसे, चन्दन-चोवा आदिसे, तेरा पूजन होता है और इतना सुचारुरूपेण तुझे रक्खा जाता है कि जहाँ वायु तक भी एकायक नहीं जा सकता है। फिर तेरे पास अब कौन पहुँच सकता है। इत्यादि—

❀ ये मूर्ति वैसे ही पड़ी थी पक्षियोंकी बीट वगैरह उस पर गिरा करती थीं वहाँ कोई झाड़ू-बहारू भी ठिकानेसे न करता था यानी उस समय उस मूर्तिकी हालत बहुत खराब थी।

श्रीस्वामीजी कहते हैं कि हे देव ! क्या तुझे वे दिन भूल गये जब सिर पर चिड़ियोंकी बीट गिरती थी। कैसी खराब हालत थी। जरा उन दिनोंको ख्याल रख। अब तू ऐसा हो गया कि कोई तेरे पास तक नहीं जा सकता। यानी अब तुझे इतना घमण्ड हो गया है कि तू किसी की भी परवाह नहीं करता। बाहरे ! अभिमानी पीपर तलके देव ! इतना अभिमान न कर।

(दार्ष्टांत)—उक्त दृष्टान्तको देखकर ही स्वामीजी जीवके प्रति कहते हैं। कि ऐसे ही यह संसाररूपी पीपलवृक्षके नीचे पड़ा हुआ देवतारूपी जीव, ८४ लाख योनियोंके मलसूत्रमें पड़ा हुआ। अनेकों कष्ट सहता हुआ भगवानकी अहैतुकी कृपा द्वारा मनुष्यदेह प्राप्त करता है और फिर नाना-प्रकारके आनन्दमय भोग-भोगता है। साथ ही—

प्रभुता पाय काहि मद नाहीं।

(श्रीगोस्वामीजी)

के अनुसार अभिमान भी करता है। इसी कारण श्रीस्वामीजी उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे जीव ! इतना अभिमान मतकर। जरा अपनी पहली दशाका ध्यान तो कर कि तेरी कैसी हालत थी।

जरा चेत जा, अपने बादेका स्मरण करता हुआ अपने कर्त्तव्यको पूरा कर। नहीं तो पछतायेगा, क्योंकि ये सब तमाशा चार दिनका है। मृत्यु पर उपाय न चलेगा। अभी मौका है भगवत्-भजन करके अपना जीवन सुधार ले।

टिप्पणी—अग्र कहे दिन वीसरे—श्रीअग्रस्वामीजी जीवको उसकी योनियोंकी गर्भावस्था की दशाका ध्यान दिलाते हुए

उसके करार का भी स्मरण दिलाते हैं। कि ऐ जीव ! माताके उदरमें जब तू बहुत बिकल था मलमूत्र आदिसे घिरा हुआ था। तब तूने भगवानका स्मरण करते हुए उससे क्या प्रार्थना की थी। इसका भी तुझे कुछ ध्यान है। देखिये—

तैं निज करम डोरि दृढ़ कीन्हीं। अपने करनि गांठ गहि दीन्हीं।
ताते परवश पर्‌यो अभागे। ता फल गरभबास दुःख आगे।

आगे अनेक समूह संसृत उदर गत जान्यो सोऊ।
सिर हेठ, ऊपर चरन संकट बात नहिं पूछै कोऊ॥
सोनित पुरीष जो मूत्रमल कृमि कर्द्दमावृत सोवई।
कोमल शरीर, गम्भीर वेदन, शीश धुनि-धुनि रोवई॥

तू निज करमजाल जहँ घेरो। श्रीहरि सङ्ग तज्यो नहिं तेरो।
बहुबिधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हो। परम कृपालु ज्ञान तोहि दीन्हो।
पुनि बहुबिधि गलानि जिय मानी। अब जग जाइ भजौं चक्रपानी।
ऐसेहि करि बिचार चुप साधी। प्रसव पवन प्रेरेउ अपराधी।

(श्रीगोस्वामीजी विनय पत्रिका)

इस तरह तू वादा करके कि मैं आपका भजन करूँगा। यहाँ क्या कर रहा है। उस दिनकी दशा तुझे विस्मरण हो गई। जब, हा-हा करता हुआ भगवानकी सहायता चाहता था। यहाँ आते ही तेरा ये अभिमान ! ये तुझे जरा भी शोभा नहीं देता। जरा अपने पहले दिनोंका ख्याल कर। इस अभिमानको त्याग। अपने कर्त्तव्यको जो तूने 'अब जग जाइ भजौं चक्रपानी' वाला वादा किया था, उसको पूराकर इत्यादि।

निद्रा छायो झोपड़ा सो क्यों निरचू होय।
सो क्यों निरचू होय ब्रह्माको आज्ञा दीन्ही।

रची न अपने हाथ नाथ ! तुम काची कीन्ही ।
पाँच तत्व, गुण तीन, झूठ ले जगत उपाया ।
बढ़ा कुटुम्ब परिवार तहां कोइ काम न आया ।
'अग्रदास' बिछुरे बहुरि मिलत न देखो कोय ।
निद्रा छायो झोपड़ा सो क्यों निरचू होय ॥६५॥

शब्दार्थ—निद्रा=नींद । निरचू=न चूने वाला, न टपकने वाला । रची=बनाई । काची=कच्ची, धोखे वाली, कमजोर जल्दी नष्ट होने वाली । उपाया=बनाया, पैदा किया । छायो=छप्पर बनाया ।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे नींदमें छाया हुआ झोपड़ा यानी नींदमें बनाया हुआ झोपड़ेका छप्पर बिना टपकने वाला कैसे हो सकता है ? कदापि नहीं । वह तो चुयेगा ही, क्योंकि नींदमें तो और भी असावधानी हो जाना संभव है ।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही श्रीब्रह्माजीने अपने रजोगुणरूपी निद्रा के वशीभूत हो इस संसाररूपी झोपड़े की रचना की । इसका छप्पर बनाते समय तो उन्होंने बड़ी ही असावधानता की, कि जिसके कारण इसकी रचना ही कच्ची (टपकने वाली) हो गई । यानी इसमें स्थिरता न आ सकी । बल्कि क्षणभंगुरता आ गई ।

इस दोषके आ जानेका, सच पूछिये तो सरकार ! मुख्य कारण यही है, कि इसकी रचना आपने स्वयं अपने कर-कमलोंसे न करके श्रीब्रह्माजी द्वारा करवाई है सरकार ! 'खेती आप सेती' होती है । कहीं सन्देशों खेती करवाकर किसीने अच्छा काम

करवा पाया है। अतः हे नाथ ! आपकी ही ऐसी इच्छा थी कि सृष्टि की ऐसी ही कच्ची रचना हो। तब तो आपने रचनेका कार्य श्रीब्रह्माजीको दिया जो स्वयं रजोगुणमय हैं। जिन्होंने ये मायामय ❀ पंचतत्त्व व तीन गुणोंसे इस झूठे जगत्को उत्पन्न किया।

पहले तो ब्रह्माजीने इस जगत्को उत्पन्न कर इसकी सत्यता दिखलाई और कुटुम्ब परिवार आदिके बढ़ावसे उस सत्यताको और भी पुष्ट किया किन्तु अन्तमें (मृत्यु समय) सब वैभव आदि अपनी सारी-रचनाका यथार्थस्वरूप दिखलाया कि ये समस्त रचना, सच्ची नहीं। सब भ्रमवत् कालवश हो अन्तमें यही दशा भोगने वाले हैं। उस समय (मृत्यु समय) कोई किसी के काम नहीं आ सकता। न कोई किसीके साथ आ, जा सकता है। अतः ये सब प्रपंच झूठा मायामय है।

श्रीस्वामीजी कहते हैं कि इसी कारणसे संसारसे जो चला जाता है वह फिर कभी भी वापिस आते नहीं देखा गया है। क्योंकि संसाररूपी झोंपड़ाकी श्रीब्रह्माजीने रचना ही ऐसी की है। फिर क्या—जब असावधानीमें ये बनाया गया है तो क्यों न वह सदोष हो। वह निरचू यानी निर्दोष कैसे हो सकता है।

टिप्पणी—निद्रा छायो झोपड़ा–'झोपड़ा' शब्द कच्ची दीवालों वाला छोटा-सा मकानका बोधक है। साथ ही निद्रावश छाये जानेसे यह ज्ञात हुआ कि उसका छप्पर भी ठिकानेसे नहीं छाया गया है। इससे ये झोपड़ा अच्छी तरह न छबनेसे कच्चा

❀ छिति जल पावक गगन समीरा।

+सत्, रज, तम।

हो गया जो पानी टपकने से जल्दी ही नष्ट हो जाने वाला है क्योंकि विशेषकर इसमें अगर पानी न टपके, तो जल्दी बरबाद नहीं हो सकता है। लेकिन ऐसा तो है नहीं, ब्रह्माजीने इसे ऐसे छाया ही है कि वह चुये और जल्दी ही नष्ट हो जाय। इस पर क्या वश।

सारांश यह है कि इसी तरह ये शरीररूपी झोपड़ामें जीवन रूपी छप्पर ब्रह्माजीने ठीक नहीं बनाया। उसे कच्चा जल्दी ही नष्ट होने वाला बनाया है जिसमें सुख-दु:खरूपी जल पैठकर झोपड़ेकी दीवालें यानी कायाके अङ्ग-अङ्ग नष्ट कर देता है। जिससे ये चिरस्थाई नहीं रह सकता है। जल्दी ही गिर पड़ता है—

आकासै बिजली छिवे खरी चलावै लात।
खरी चलावे लात असत पर सतकी निन्दा।
उलटि छारि मुख परे धूर परसै नहि चन्दा।
ज्यों छाया उपहार प्रहार न लागे तनको।
त्यों जगकी उपहास कहाँ पहुँचे हरिजनको।
'अग्र'स्वामि सेवक अभय दुनी दाँत घिसिजात।
आकासै बिजली छिवे खरी चलावै लात ।।६६।।

शब्दार्थ—छिवे=चमके, गिरे। खरी=गधी। निन्दा= अप्रशंसा। उपहार प्रहार=प्यार व मार। उपहास=हँसी। दुनी दाँत=संसारी लोगोंके दांत घिस जाते यानी अकल ठिकाने आ जाती है विनय करने लगते हैं।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे आकाशमें बिजलीकी चमक देखकर गधी अपनी पुस्तंगेंके (टांगे

फटकारे) तो उसका ये लातें फटकारना व्यर्थ ही है क्योंकि बिजली पर इसका कोई प्रभाव पड़ना संभव ही नहीं, बल्कि उसीकी हानि होना संभव है क्योंकि पैर फटकारनेसे कहीं भी टक्कर लग जानेका भय है जो उसीको भुगतना पड़ेगा।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही मायाग्रस्त संसारी-जीव स्वयं असत्यमें पड़कर सत्य की यानी साधु-सन्त-सज्जनों की निन्दा करते हैं। उनसे द्रोह रखते हुए अपने अपने कुवचनोंसे आक्षेप करते हैं किन्तु उनका जरा बालबांका नहीं कर पाते। उलटे सन्त-निन्दा के पापफल भोगने पड़ते हैं। जैसे कोई आकाशमें चन्द्रमा पर धूल डालनेके लिए धूल फेंके तो क्या वह धूल चन्द्रमा पर पड़ सकती है, कदापि नहीं उलटी फेंकने वालेके मुंह पर आकर गिरेगी। इसी तरह सन्त-गुरु-सज्जन, निन्द्रकोंको सन्त-निन्दाके पापों की सजाका दुःख उठाना पड़ता है।

इसी तरह जैसे शरीर की छायाका सत्कार्य करने अथवा मारने-पीटनेसे शरीरका कुछ नहीं बिगड़ता या इससे शरीर पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वैसे ही संसारी-मायाग्रस्त लोगों की हँसी व प्रसंशा भगवत्-भक्तजनोंके निकट तक ही नहीं पहुँचती। न उसका उन पर कोई प्रभाव ही पड़ता है। एक तो वैसे ही यह प्रभाव पड़ना संभव नहीं, दूसरे उसका प्रभाव पड़ता भी नहीं क्योंकि—

निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद कंज।

ऐसा उनका स्वभाव ही होता है। अब ये प्रभाव पड़े तो कैसे ? श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि वे भगवानके सेवक हैं। उनको किसका भय हो सकता है। वे अपने मालिकके बलसे सदैव निर्द्वन्द रहते हैं। दुनियांके लोग उनका कर ही क्या सकते हैं।

साथ ही श्रीप्रभुजी भी, जिनके भरोसे वे अभय रहते हैं, उनकी निन्दा नहीं सुन सकते हैं देखने की बात ही क्या है। वे फौरन निन्दकको इसका दण्ड देते हैं। जिससे दुनियांके दांत खट्टे हो जाते हैं और अकल ठिकाने आ जाती है। तब फिर दुःख और भयसे पछता-पछताकर उनकी शरण ही आना पड़ता है और इस तरह हा-हा कर दांत घिसने पड़ते हैं यानी अभिमान त्याग दीनतायुक्त प्रार्थना करनी पड़ती है। देखिये—

निज अपराध रिसायँ न काऊ।

जो अपराध भक्त कर करई। रामरोष पावक सो जरई।
लोकहु वेद विदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं *दुर्वासा।

(श्रीगोस्वामीजी)

कहनेका सारांश यह है कि भक्त-निन्दकोंको संसारमें गजबी चोटें पड़ती हैं। जिनसे तङ्ग आकर वे घबड़ा जाते हैं और स्वयं निन्दाके पात्र बनते हैं और भक्तों पर इसका जरा भी प्रभाव नहीं पड़ता, जिस तरह बिजली की चमक पर गधीके पैर फेंकनेसे बिजली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

टिप्पणी—अग्रस्वामि सेवक अभय—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि संसारमें अभयता एक प्रभु भरोसे हो सकती। अथवा भगवानके सेवक ही अभय हो सकते हैं। अथवा जब जीवको हृदयसे भगवानका निश्चित भरोसा आ जाता है तब वह अपने स्वामीको 'परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई' ऐसा समझ और उनसे अपना कोई नाता समझ यों निर्भय हो जाता है। कि जब

---

*यह कथा विस्तारपूर्वक श्रीमद्भागवतमें वर्णित है। वहींसे अच्छी तरह देखी व समझी जा सकती है।

संसारमें राजाके भरोसे नौकर तक अभय देखे जाते हैं तो मैं तो उस परात्परका कोई सम्बन्धी हूँ, मेरी तरफ किसकी मजाल है जो जरा भी देख, तू-तड़ाक कर सके। ऐसा भाव मनमें आते ही वह बिलकुल अभय हो जाता है। फिर संसार तो संसार ही है, वह बड़े-बड़े ब्रह्मादि देवोंसे भय नहीं खाता। क्योंकि उसको भरोसा तो अपने मालिकका है। दूसरे मालिकका स्वभाव भी विचित्र है। जिसे ऊपर कह चुके हैं। कि वह अपने आश्रित जीवों को जरा भी दु:खित नहीं देख सकते हैं। क्योंकि—

राम सदा सेवक रुचि राखी। वेद पुराण सन्त सब साखी॥
(श्रीमानस)

अत: स्वामीजीके कहनेका तात्पर्य ये है। कि बिना भगवान से निश्चित भरोसे वाला नाता लगाये, मनुष्य न भगवानका हो सकता है और न अभयपद प्राप्तकर स्वतंत्रतापूर्वक आनन्दसे लोक-परलोक बना सकता है। अथवा न निजस्वरूप प्राप्तकर सकता है। अत: नाता जोड़ना अनिवार्य है, साथ ही उस नातेका पूर्ण निश्चित भरोसा भी उतना ही जरूरी है जितना कि नाता लगाना। देखिये—भगवान स्वयं श्रीमुखसे कह रहे हैं कि—

मोर दास कहाय नर आशा। करै तो कहहु काह विश्वासा।
सबकी ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बट डोरी।
समदर्शी इच्छा कछु नाहीं। हरष शोक भय नहि मन माहीं।
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे।
(श्रीमानस)

इसीसे केवल नाता व भरोसाके निश्चय की देर है भगवान के यहांसे देर नहीं और बिना इसके कुछ कार्य भी नहीं हो सकता, न जीव अभय यानी मुक्त हो सकता है।

*सेवक सेव्य भाव बिन भव न तरिय उरगारि ।
(श्रीगोस्वामीजी)

राम चरण तजि आन रति सो गज तजि गदहा चढ़ो ।
सो गज तजि गदहा चढ़ो भयो आतम हत पापी ।
वहै अविद्या मूल वहै गुरु द्रोह सुरापी ।
वहै कृतघ्नी कुटिल वहै बड़ नोन हरामी ।
वहै दीन गति हीन वहै नरकिन में नामी ।
'अग्र' कहै सोइ गति नहीं तीन ताप सोई दृढ़ो ।
राम चरण तजि आन रति सो गज तजि गदहा चढ़ो।।६७

शब्दार्थ—रति=प्रेम, भरोसा, विश्वास, भक्ति। आतम-हत=आत्माघाती, अपने हाथों अपना नाश करने वाला। वहै=वही। द्रोह=शत्रुता, अनखता। सुरापी=मदिरा पीने वाला। कृतघ्नी=किसीके किये को न मानने वाला, ऐहसान, फरामोश। कुटिल=दुष्ट। नोन हरामी=बन्दगी चोर। नरकिन=पापी। नामी=प्रसिद्ध। दृढ़ो=जला हुआ।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे कोई हाथी की सवारी छोड़कर गदहे की सवारी करे। तो वह सब प्रकारसे निन्दनीय ही नहीं शोचनीय होगा।

(दार्ष्टान्त)—ठीक वैसे ही जो जीव भगवान की भक्तिरूपी हाथी की सवारी छोड़कर अन्य क्षुद्र भूतादि की उपासनारूपी

---

*वैखानस वटु यती उदासी। कवि कोविद कृतज्ञ संन्यासी।
योगी सूर सुतापस ज्ञानी। धर्म निरत पंडित विज्ञानी।
तरहिं न बिन सेये मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी।

गदहे की सवारी करता है वह भी निन्दनीय तथा शोचनीय है। इतना ही नहीं जो इस प्रकार अपनी आत्मोन्नतिमें बाधा डाल, जान-बूझकर अपने यथार्थ मार्गसे च्युत हो अपना कर्तव्य भूल जाता है वह आत्महन यानी महापापी आत्महत्या करने वाला हैं।

वही आसुरी सम्पत्ति (माया) की जड़ एवं गुरुद्रोही है। क्योंकि उसने अपने आचार्यके बतलाये हुए मार्गको नहीं धारण किया है। बल्कि उसने विमुख मार्गका अनुसरण किया है। इस तरह गुरु विरुद्ध होनेसे वह गुरुद्रोही हुआ। वही मदिरापान करने वाला शराबी है। क्योंकि वह विषयरूपी मदसे मस्त रहता है। इसलिए उसे शराबी भी कहा जा सकता है। वही ऐहसान फरामोश है। क्योंकि वह भगवान की कृपासे मिला हुआ देव-दुर्लभ तनके ऐहसानको भूलकर उन्हीं की ही परवाह नहीं करता। यहां-वहाँके देवी-देवताओंको मनाता फिरता है। यही उसकी कुटिलता है। वही नमकहरामी है, कि जिसने अपने कर्तव्यको पूरा नहीं किया। ये अपने ईश्वर-भजनके करारको भूलकर मायामें पड़ जानेसे नमकहरामी हुआ। अतः वही सब प्रकारसे दीन गतिहीन है जिसने भगवानका भजन नहीं किया। क्योंकि जब भजनबल न होगा तब उसे कौन पूछेगा अतः दीन हुआ। जब ये बल न प्राप्त होगा तब तक कुछ भी गति न रह जायेगी। संसारमें ही पड़ा-पड़ा सड़ता रहेगा। अन्तमें यही कहना पड़ेगा कि वही महापापी घोर-नरकमें जाने वाला है जो उक्त (श्रीरामचरण रतिसे रहित) है और वही शोचनीय भी है।

शोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाड़ि छल हरिजन होई।

(श्रीगोस्वामीजी)

अतः श्रीस्वामी अग्रदासजी कहते हैं कि ऐसे जीवको जो प्रभुभक्ति भूलकर अन्य भूतादि क्षुद्र देवों की भक्ति करते हैं। उनको त्रिकालमें भी कहीं गति मिलने की बात नहीं। अथवा वे कभी भी सांसारिक-बन्धनसे मुक्त नहीं हो सकते। सदैव त्रितापाग्निमें ही जला करेंगे। उनको कोई बचाने वाला नहीं। क्योंकि जिनकी वे उपासना करते हैं उनके वे इष्टदेव ही स्वयं त्रितापाग्निमें जल रहे हैं तो दूसरोंको वे क्या और कैसे बचा सकेंगे।

टिप्पणी—आतमहत पापी—भगवद्-भक्ति भूलते ही जीवको अविद्या बरबस अपनी ओर खींचकर नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। अतः जीवको उससे बचनेके लिए भक्ति-आश्रय लेना अनिवार्य है। क्योंकि इसके बिना मायासे छुटकारा ही नहीं। देखिये—

राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसे जासु उर सदा अवाधी।
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सके कछु निज प्रभुताई।
(श्रीमानस)

और फिर—मनुष्य-शरीरको जिससे भक्ति अति सुलभ है प्राप्तकर साथ ही आचार्य की कृपा भी प्राप्तकर अगर भक्ति न कर सका तो उससे बड़ा और कौन आतमहत होगा, कहा भी है—

जो न तरे भवसागर, नर समाज अस पाय।
सो कृत निन्दक मन्दमति, आतमहन गति जाय॥
(श्रीगोस्वामीजी)

पानीमें धन नीकसे उरिन न भयो गुवाल।
उरिन न भयो गुवाल दुर्लभ नर तन हरि दीन्हो।

भक्ति सुधा रस छाँड़ि जहर विषया रस लीन्हो ।
श्रवण घ्राण मुख पाणि चरण दृग उत्तम आपी ।
तिन सों दीन्हीं पीठि निलज कृतघ्नी पापी ।
'अग्र' स्वामि उपकार निधि भजो नहीं गोपाल ।
पानी में धन नीकसे उरिन न भयो गुवाल ।।६८।।

शब्दार्थ—नीकसे=निकाले । उरिन=मुक्त । भक्तिसुधा रस=प्रेमामृत दूध । जहर बिषयारस=बिषय, विषरूपी पानी । श्रवण=कान । घ्राण=नाक । पाणि=हाथ । दीन्हीं पीठि= विस्मरण किया, भुला दिया, सामने नहीं रखा, विमुख हो गये आदि । निलज=बेशर्म । उपकार=भलाई ।

भावार्थ—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि दूधमें पानी मिलाकर बेचनेसे, बेईमानी करके, पानीके पैसे बनाकर ग्वाला ऋणमुक्त नहीं हो जाता है बल्कि इस विश्वाशघातका उसे दण्ड भोगना पड़ता है । जिसके कारण उसे ये पानी की कमाई श्रेयकर नहीं होती और न वह सुखी होता है ।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही यह जीवरूपी ग्वाल दुर्लभ मनुष्य-शरीरको श्रीभगवान की कृपासे प्राप्त करता है । वह भगवान की भक्ति करके भगवानके उदर-करारके ऋणसे मुक्त होना चाहता है । जिस तरह ग्वाला साहूकारके ऋणसे दूधमें पानी मिलाकर मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि ज्योंही साहूकारको मालूम पड़ जायगा उसी दिन वह उसे बन्द करके उसकी सब कसर निकाल लेगा और इस तरह उसकी सारी-सेवा पर धब्बा पड़ेगा । इसी तरह वह (जीव) भक्तिसुधारूपी दूधमें विषय बिषरूपी जल मिला कर भगवानके ऋणसे मुक्त नहीं हो सकता, बल्कि इस पाखण्ड

का उसे बदला मिलता है साथ ही सब करा-कराया गुड़-गोबर हो जाता है। उसके अतिरिक्त मालिकका विश्वास भी नहीं रहता। जो उसे कष्टका कारण बनाता है। साथ ही जिस तरह दूधमें पानी मिलानेसे ग्वाला तथा दूध दोनों की दर बिगड़ जाती है। उसी प्रकार भक्तिमें विषय मिलानेसे भक्त व उसकी भक्ति दोनों की दर उठ जाती है। उसे कोई कौड़ीका नहीं पूछता और जो इसमें इसके प्रायश्चित्तरूप कष्ट होते हैं वह अलग ही हैं। साथ ही अपने मालिकके साथ धोका देने वाला जिस तरह वह ग्वाल बेईमान और पापी कहलाता है। उसी प्रकार ये भक्त भी कृतघ्नी तथा पाखण्डी कहलाता है।

कहनेका मतलब यह है कि मनुष्य-शरीरको प्राप्त कर भगवत्-भक्ति करनी चाहिए। जिसमें अपना-कर्तव्य भी हो, साथ ही सुख भी प्राप्त हो। सो तो ये जीव करता नहीं भगवत्-भजनरूपी अमृतमें विषयरूपी विष घोलकर पीता है। जिससे अमर होनेके बजाय मारा जाता है। फलतः दुःख उठाता है।

इस तरह ये जीव बिना भक्तिके ईश्वर-विमुख हो जाता है। जिन परम हितैषी भगवानने इसे अपने कर्तव्य पूरा करनेके लिए व अपने उत्तमस्वरूप की साधनाके लिए कान, नाक, मुख, हाथ, पैर, नेत्रादियुक्त शरीर दिया है। उन्हीं कृपालु दयासागर भगवानको भुलाकर कृतघ्नी पापी आदि कहलाता है। क्योंकि अपने कर्तव्यको पूरा न करनेके कारण इसकी ये दशा होनी ही चाहिए।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि ऐसे परम-हितैषी परम समर्थ उपकार-सिन्धु श्रीसीतारामजीको भुलाकर यह जीव अपने ऋण (उदर-स्थित समयमें भजन करनेका संकल्प) से कभी भी

मुक्त नहीं हो सकता क्योंकि विषयानुरक्तिसे उक्त वादा भूल जाता है और ग्वाले की तरह बेईमानीसे मुक्त होनेका प्रयत्न करता है। जो सुखप्रद होनेके बदले दु खप्रद होता है।

टिप्पणी—निलज कृतघ्नी पापी—देखिये कुंडलिया नं० ६७।

मांगे मान न पाइये सकृत सनेह न होय।
सकृत सनेह न होय पाक नहि होय अग्नि बिन।
उड़गन बिन नहि रैन सूर्य बिन नहि कबहूँ दिन।
सुख नाहीं बिन पुण्य दुःख नाहीं बिन पापहिं।
बिष नहि अमृत होय छीर प्यावे जो सापहिं।
'अग्र' आनके पूतसे कारज सरे न कोय।
माँगे मान न पाइये सकृत सनेह न होय ॥६९॥

शब्दार्थ—मान=आदर। सकृत=एकबार। पाक=पक्वता, सिद्ध होना, तैयार होना। उड़गन=तारे। सरे=पूर्ण होना। छीर=दूध।

भावार्थ—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जैसे किसीसे कुछ याचना करनेसे मान नहीं रहता अर्थात् माँगनेसे मान नहीं मिलता बल्कि मान चला जाता है और एकबार मिलनेसे ही स्नेह नहीं बढ़ता अथवा बिना दो के प्रेम नहीं होता। बिना आगके भोजन तैयार नहीं होता, बिना तारागणोंके रात शोभा नहीं देती। अथवा बिना तारों की रात नहीं होती। इसी प्रकार बिना सूर्यके दिन नहीं होता व बिना पुण्यके सुख-सौभाग्य और बिना पापके दुःख नहीं होता है। जैसे सांपको दूध पिलाकर उसका विष, अमृत नहीं किया जा सकता अथवा सांपको दूध पिलानेसे विष ही बढ़ता हैं, उसका विष अमृत नहीं हो जाता है—

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि इसी प्रकार कहीं दूसरेके बेटेसे अपना काम चलता है ? जहाँ काम पड़ता है वहाँ अपना ही पुत्र काम देता है। कहा भी है 'अपना सो अपना पराया सो सपना।' कहनेका सारांश ये है कि बिना अपने पुरुषार्थ किये कुछ भी नहीं मिलता। मनुष्य-जीवनमें ईश्वरभक्ति करना ही परम-पुरुषार्थ है। जिससे जीवन-सफल हो सकता है। अन्यथा नहीं और ये बिना किये नहीं हो सकता है। ये माँगनेसे नहीं मिलता है।

टिप्पणी—माँगे मान न पाइये—मांगनेसे मान नहीं मिलता व मांगनेसे ही मान जाता रहता है। देखिये—

रहिमन याचकता करे, केहि को नहिं घट जात।
नारायण हूँ को भयो, बावन अंगुल गात॥
रहिमन हमें न सुहाय अमिय पियावे मान बिन।
विषहूं देय पिलाय मान सहित मरबो भलो॥

(श्रीरहीमजी)

तुलसी वे नर मर चुके जो कहुँ मांगन जांय।
उनते पहले वे मुये जिन मुख निकसत नांय॥
तुलसी कर पर कर करे कर तर कर न करे।
जा दिन कर तर कर करे ता दिन मरन करे॥

(श्रीगोस्वामीजी)

टिप्पणी—अग्र आनके पूतसे—कहीं अग्र अश्मके पोससे भी पाठ है वहाँ ये भाव लेना चाहिए कि श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि पत्थरके पालन-पोषण करनेसे कहीं काम चल सकता है कदापि नहीं।

अपने माँ डायन कहे ऐसो कौन कुपूत।
ऐसो कौन कुपूत कहे डायन महतारी।
दादू पकड़ी टेक बेष बिन देह बिगारी।
कहनी गहनी एक रस मन दियो न चालन।
एक नोन के स्वाद बिन बिगरे सब सालन।
'अग्र' स्वामिके स्वांग बिन देखत ही के पूत।
अपने माँ डायन कहे ऐसो कौन कुपूत ॥७०॥

शब्दार्थ—डायन=पिशाचिनी, एक भूत सम्बन्धी योनि। टेक=जिद्द, हठ। बिगारी=खराब की। कहनी=कथन। गहनी=धरन। एकरस=एकसी, जैसी चाहिए तथा योग्य। सालन=साग। स्वांग=नकल, अनुकरण।

भावार्थ—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि अपने मुँहसे अपनी माँको डायन कहने वाला कौन कुपूत होगा ? मेरी समझमें कुपूत भी अपनी माँको डायन नहीं कह सकता किन्तु मुझे केवल एक श्रीदादूजी ही ऐसे मिले कि जिन्होंने ऐसी उक्त हठ पकड़ रखी है। साथ ही अपनी भावनाके अनुकूल अपने बेषको न बनाकर शरीरको खराब कर दिया है। यानी शरीरकी शोभाको बिगाड़ दिया है।

इसमें शक नहीं कि आपने अपनी कहनी-रहनीमें कोई अन्तर नहीं आने दिया अर्थात् जो आपने वचन कहे उसको आचरणों द्वारा पुष्ट भी किया और इस तरह अपने मनको वशमें रखके उसे स्थिर किया। कहीं जाने नहीं दिया किन्तु जैसे बिना नमकके सारे साग-पदार्थके स्वाद, बेस्वाद हो जाते हैं यानी

स्वादिष्ट नहीं लगते। केवल रामरस ही सब पदार्थोंके स्वादको बिगाड़ देता है उसी प्रकार इन्होंने बिना श्रीकिशोरीजीके केवल श्रीरामजीको मानकर अपनी धारणाको बेस्वाद कर दिया है। साथ ही अपनी धारणानुकूल अपने उपास्यदेवसे सादृश्य रखता हुआ कोई वेष भी स्थित नहीं किया। इन सब कारणोंसे इनका मार्ग अधूरा ही रह गया।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि अपने उपास्यदेवजीके तुल्य अनुकूल-अनुकरणके बिना इस पन्थके मानने वाले देखने मात्रके पूत हैं अथवा देखनेमें ही पूतसे लगते हैं जो अपनी माँको डायन कहकर पुकारने वाले कपूत हैं।

टिप्पणी—दादू पकड़ी टेक—श्रीदादूजी जयपुरमें एक अच्छे महात्मा हुए हैं। इन्होंने एक अपना धर्म (मत) जो दादू पंथके नामसे प्रसिद्ध है, चलाया। ये मत भक्ति-प्रधान होते हुए भी केवल श्रीरामजीको ही मानना है। इस मतके मानने वाले विरक्त भी गृहस्थों की तरह रहते हैं। इनका कोई विशेष वेषभूषा नहीं है।

श्रीदादूजी श्रीअग्रदास स्वामीजीके समकालीन थे अतः उक्त दोनों महात्माओंमें, प्रेमपूर्वक धर्म-सम्बन्धी संभाषण हुआ करता था। उसीको लक्ष्य करके श्रीस्वामीजीने इस पद्यका निर्माण किया। श्रीस्वामीजी युगलोपासना वाले परमभक्त अनन्य उपासक थे। श्रीदादूजी श्रीरामजीको ही अकेला मानने वाले होनेके कारण श्रीमहारानीजीको मनमाना प्रेमपूर्वक बका करते थे। अतः उन्हीं भावोंका थोड़ा-सा दिग्दर्शन मात्र इस पद्यमें श्रीस्वामीजीने कराया है, इस पद्यसे यह भी स्पष्ट है कि स्वामीजीने श्रीदादादूजीको उनकी उपासना संबंधी त्रुटि समझा ही दी होगी।

किन्तु वे अपनी टेकवश न मान सके होंगे। अतः उन्होंने हृदयमें श्रीस्वामीजी की बातको यथार्थ समझकर भी अपना हठ न छोड़ा और इतना ही नहीं। इस हठके अनुकूल अपने उपदेशसे सामंजस्य रखते हुए अपने आचरण भी बनाये। जिसकी श्रीस्वामीजी प्रशंसा भी करते हैं। क्योंकि साधुओं की टेक ही सब कुछ है जो उन्हें लक्ष्य तक ले जा सकती है। भगवान तो भक्तवत्सल हैं। वह अपने भक्त की टेक ही रखते हैं। चाहे वे कैसी भी आड़ी तिरछी हों। केवल भक्त उसे हृदयसे धारण करे पाखण्डसे नहीं। इस तरह अपनी टेक अन्त तक निभाते हैं। वही प्रशंसापात्र होते हैं। चाहे वह टेक पूर्ण भ्रमपूर्ण हो।

उपखाने उपदेश हित ज्यों द्रुम साखा चन्द।
ज्यों द्रुम साखा चन्द दूज दिन चन्द्र दिखावे।
कथन श्रवन मनमोद हृदय हरिचरण बसावे।
विष्णुपदी पावनी बिबुध बारन विस्तारा।
भवसागर खुरधेनु तरत लागैं नहिं बारा।
'अग्र' भक्ति पावे अटल सत्संग सदा आनन्द।
उपखाने उपदेश हित ज्यों द्रुम साखा चन्द॥७१॥

शब्दार्थ—उपखाने=उपाख्यानों, कहावतों। द्रुम साखा= डगाल। विष्णुपदी=गंगा। बिबुध=देवता। बारन=हाथी। बारा=समय। अटल=अविचल।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जिस प्रकार द्वितीयाका चन्द्रमा उँगली निर्देश करके वृक्षकी शाखा द्वारा दिखाया जाता है 'कि देखो उस पेड़ की फलां टहनी साख व लताके सामने ऊपर वह चन्द्रमा दिखाई देता है' इत्यादि।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही मैंने इन उक्त कुण्डलियोंके हितोपदेशों को ज्ञानपुष्टिके लिए प्रचलित कहावतों तथा दृष्टान्तों द्वारा कहकर परम माङ्गलिक यथार्थ ज्ञान-वैराग्य-भक्ति आदिका निर्मल दर्शन कराया है। ताकि अति शीघ्रतापूर्वक समझमें आ जाये।

अतः जो इसे ध्यान-धारणापूर्वक पढ़-सुनकर अति आनंदित हो, अपने हृदयमें भी श्रीसीतारामजीके पद-कमल दृढ़तायुक्त धारण करेंगे। उनको यह कुण्डलिया विष्णुपदी देवगंगाके समान पवित्र कर कृतार्थ करने वाली होगी। उनको यह जगत्-विस्तार यानी विधाताका यह सारा-प्रपंच कुछ भी रुकावट न कर सकेगा। वे भवसागरको गायके खुर की भांति सहजमें ही पार कर सकेंगे।

अतः जो इस पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़ें, सुनेंगे। उनको भीतर-बाहर (मनमें) परममोद प्राप्त होगा और उनके हृदय-कमलमें श्रीहरिचरण-कमल निवास करेंगे। उनको श्रीगंगाजीके समान यह सुन्दर सत्संगमय (भक्तिज्ञान-वैराग्यमय) उपदेश पवित्र कर यथार्थ बुद्धियोग देंगे। जिससे ये बुद्धियोग प्राप्तकर लेने वाले भक्तजन जैसे हाथी गंगाजीके विस्तारको सहजमें ही पार कर लेता है वे इस भवसागरको वैसे ही गायके खुरके समान पार कर लेंगे। थोड़ा भी परिश्रम न होगा न देर ही लगेगी।

श्रीअग्रस्वामीजी आशीर्वाद देकर अति निश्चयतापूर्वक विश्वास दिलाते हुए कहते हैं कि उपरोक्त कुण्डलियोंके उपदेशों के सत्संगसे जो सदैव सत्यानन्द देने वाला है यथार्थसुख की प्राप्ति होगी। क्योंकि सत्संगसे ही संसार-बन्धन छूटकर संसारमें सब कुछ प्राप्त हो सकता है।

सत संगति मुद मंगल मूला। सोई फल सिधि सब साधन फुला।
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि यतन जहां जेहि पाई।
सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहुं बेद न आन उपाऊ।

ऐसा विचारकर जो इस ग्रन्थको पढ़कर इसका मनन करेंगे उनको अविचलभक्ति प्राप्त होगी। और भक्तिसे सम्पूर्ण आनन्द का स्वरूप 'आत्मानन्द' प्राप्त होगा।

राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा।

टिप्पणी—दूज दिन चन्द दिखावे—भारतीय सिद्धान्तानुसार द्वितीयाका चन्द्रमा बहुत-पवित्र माना गया है। यहाँ तक कि सर्वकल्याणकर्ता भक्तिभावन श्रीभूतेश्वरजीने इसे अपने मस्तक पर धारण किया है।

कहते हैं कि जो लोग नेमसे वर्ष-भर हर द्वितीयाको (अमावस्याके बाद) चन्द्रदर्शन करते हैं उन पर कोई दैवी चोट नहीं आती। वह सदैव आनन्दित रहते हैं। सारांश यह है कि यह माङ्गलिक व परम पवित्र माना गया है—

सदा न फूले तोरई सदा न सावन होय।
सदा न सावन होय सन्तजन सदा न आवैं।
सदा न रहे सुबुद्धि सदा गोविन्द यश गावै।
सदा न पक्षी केलि करे यह तरुवर ऊपर।
सदा न स्वादहि रहे सफेदी आवे भू पर।
'अग्र' कहे हरि मिलनको तन मन डारो खोय।
सदा न फूले तोरई सदा न सावन होय॥७२॥

शब्दार्थ—तोरई=सागका वृक्ष विशेष। तन मन=प्राणपन।

भावार्थ—(दृष्टान्त) श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि जैसे तोरई हमेशा नहीं फूला करती है। केवल सावनमें ही फूलती है और हमेशा सावन महीना भी नहीं रहता, सालमें एकबार ही होता है।

(दार्ष्टान्त)—वैसे ही सन्तजनोंका भी दर्शन हमेशा नहीं होता रहता है। जब श्रीभगवान की कृपा हो तथा अपना भाग्य हो तब यह लाभ होता है। इसी तरह हमेशा शुद्धबुद्धि भी नहीं रहती। कहनेका मतलब यह है कि यह मनुष्य-जीवनरूपी समय हमेशा नहीं मिलता और न उसमें सावनरूपी युवावस्था ही हमेशा रहती है साथ ही उस युवावस्थामें हमेशा तोरई फूलरूपी सुन्दरशक्ति (बुद्धि-ज्ञानादिमयी) भी हमेशा नहीं रहती है। अतः जीवको सदैव आठों प्रहर इन्द्रियोंके प्रेरक देवताओंके कारणके कारण श्रीपरात्पर प्रभुका यश-गानकर जीवन-सफल करते रहना चाहिए। क्योंकि ये जीवरूपी पक्षी इस शरीररूपी वृक्ष पर हमेशा विहार न करता रहेगा (न बैठा रहेगा) और न हमेशा अनेकों प्रकारके विषय रसास्वादन करने वाली युवावस्था ही स्थाई रहेगी। अथवा इस शरीररूपी बांसके वृक्ष पर हमेशा सावनरूपी वर्षा न रहेगी और शरदऋतुमयी इस पर सफेदी यानी बुढ़ापा आवेगा ही और मृत्यु हो जायेगी। अथवा इस तरह धूर-धूसरित हो जायेगा।

अतः श्रीस्वामीजी कहते हैं कि इस मनुष्य-शरीरके पानेका उपयोग जो श्रीप्रभु-प्राप्ति है। उसके लिए देर न करना चाहिए। इसके लिए तन-मन-धन की जरा भी चिन्ता करना

व्यर्थ है। क्योंकि ये तो एक न एकदिन नष्ट होनेको ही है। अगर इतने पर प्रभुप्राप्ति न हुई तो सब बेकार ही गया। साथ ही यदि मौका पर वस्तुका फायदा न उठाया जा सका तो उस वस्तु का होना न होना बराबर ही है। 'क्योंकि समय चूक पुनि का पछिताने' इसलिए ऐसा समझ भक्तिसे भगवानको प्राप्त करना चाहिए। जो जीवनका सर्वोत्कृष्ट ध्येय है।

कहनेका सारांश ये है कि सर्वस्व न्यौछावर करते हुए यदि भगवत्-भक्ति की प्राप्ति हो गई तो बहुत ही अच्छा हुआ। अन्यथा सब कुछ बेकार हो गया, न मालूम कब ऐसा योग हो न हो। तो मौका चूकना कदापि उचित नहीं। अतः तन-मन-धनको कुछ भी न समझ जीवन-सफल करनेके लिए प्राणपनसे जुट जाना चाहिए।

सन्तजन सदा न आवैं—सन्त महात्माओंके दर्शन हमेशा ही नहीं मिलते। ये तो बड़े भाग्यसे प्राप्त होते हैं। जब भगवानकी बड़ी कृपा हो तब कहीं ऐसा सुयोग्य प्राप्त होता है देखिये—

जब द्रवैं दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये।
तेहि दर्श-पर्श समागमादिक पाप राशि नसाइये।
जेहिके मिले दुःख सुख समान अमान आदिक गुन भये।
मद मोह लोभ विकार क्रोध सुबोध ते सहजहि गये।
सेवत साधु द्वैत भय भागै। श्रीरघुबीर चरण लय लागै।
पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता। सत्संगति संसृति कर अन्ता॥

(श्रीगोस्वामीजी)

अतः जब मौका मिले इनकी, सेवा कर लेनी चाहिए। जिससे आवागमन रहित जीव हो जाय और 'आत्मानन्द' की प्राप्ति हो।

❀ रसराज महिमा ❀

रस सिंगार अनूप है तुलबे को कोउ नाहिं ।
तुलबे को कोउ नाहिं सोइ अधिकारी जगमें ।
कंचन कामिनि देख हलाहल जानत तनमें ।
जावत जगके भोग रोग सम त्यागो द्वन्दा ।
पिय प्यारी रस सिन्धु मगन नित रहत अनन्दा ।
नहीं 'अग्र' अस सन्तके सर लायक जग माहिं ।
रस सिंगार अनूप है तुलबे को कोउ नाहिं ।।७३।।

शब्दार्थ—अनूप=अनोखा । तुलबे=समताको । हलाहल=विष । अधिकारी=योग्य । सर=बराबरी । जावत=जितने सब । द्वन्दा=प्रपंच ।

भावार्थ—श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि पंचरसोंमें रसराज सिंगाररस अनुपम है । क्योंकि इसकी समानता करने बाला कोई दूसरा रस है ही नहीं । यह सर्वश्रेठ रस, सर्वरसमय है किन्तु रसोंमें इसका समन्वय नहीं है । यानी शान्त, वात्सल्य, दास्य, सख्य आदि रस, इस रसके अन्तर्गत देखे जा सकते हैं । किन्तु और रसोंमें सिंगाररस होना संभव ही नहीं है । ये सब होते हुए भी इस रसको बुद्धि द्वारा ग्रहण करना दिल्लगी नहीं, इसके लिए अधिकारीपात्र होना चाहिए । क्योंकि शेष चारों रसोंका समझना, गहना जितना सरल है उतना इस रसराजका नहीं, क्योंकि ये रसराज ही जो ठहरा ।

अत: इस रसराजको धारण करने वाला ऐसा ही असाधारण पात्र होना अनिवार्य है कि वह पहले तो कामिनी तथा कंचनको

अपने शरीरके लिए महाकालकूट विषसे भी विषैला महा भयानक मृत्युतुल्य जाने और संसारके समस्त भोगोपभोग रोगके समान कष्टप्रद समझकर जगत्-प्रपंचको सर्वदा व सर्वथा त्याग कर निर्द्वन्द रहे। इस प्रकार वह त्यागवृत्तिसे रहकर श्रीसीताराम महाराजके यानी श्रीप्रिया-प्रियतमजीके युगल रसानन्द सुखसिंधु में अहर्निश डूबा परमानन्दमें मस्त रहता है।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि ऐसे परम त्यागी रसराज शृंगार रसानन्य उपासक सन्त की बराबरी करने वाला, इस संसारमें कोई नहीं है। क्योंकि वह ऐसे ही अनुपम रसका रसास्वादन करने वाला जीवन मुक्त परमानन्द प्राप्त जीव है।

टिप्पणी—रससिंगार अनूप है—रस मेल, अथवा स्नेहका भी नाम है, जिस स्नेहके आनन्दके अन्तःकरण चतुष्टय सहित जीव तल्लीन हो जावे उसी स्नेहको रस कहते हैं। वैसे साहित्यमें ९ रस कहे गये हैं किन्तु भगवत्-प्राप्तिके उपाय-स्वरूप केवल पांच रसोंका ही महात्माओंने वर्णन किया है। वे ये हैं—शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा शृंगार। इन समस्त रसोंका विवरण यहाँ स्थानाभावके कारण आवश्यक न समझ केवल सिंगाररस की अति संक्षिप्त रूपमें कुछ अनूपता मात्र दिखानेका प्रयत्न किया जाता है, वह ये हैं।

(१) एक तो इसे रसराज कहते हैं। (२) इस रसमें शेष चार रसोंके भावोंका रसास्वादन होनेसे इसमें पांचों उँगलियां घीमें ही हैं। (३) शेष चारों रसोंमें उसका श्रेष्ठ भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता। (४) रसास्वादन की यहां पराकाष्ठा है। इसके आगे कुछ नहीं है। अतः इसका अन्त नहीं। (५) यथार्थ आत्म-समर्पण यानी सर्वस्व समर्पण निर्भेद इस रस ही में हो सकता है।

(६) दंपत्ति प्रेम अन्य दास, सखा आदि प्रेमसे पत्नीका प्रेम अधिक महत्वशाली है।

अतः मानना पड़ता है कि इसमें सन्देह नहीं कि सिंगाररस ही रसराज है और अनुपम है।

हरि सुयश प्रीति हरिदासके त्यों भावे हरिदास यश।
नेह परस्पर अघट निबहि चारों युग आयो।
अनुचर को उत्कर्ष श्याम अपने मुख गायो।
ओतप्रोत अनुराग प्रीति सबही जग जाने।
पुर प्रवेश रघुवीर भृत्य कीरति जु बखाने।
'अग्र' अनुग गुन वरणते सीतापति नित होयँ वश।
हरि सुयश प्रीति हरिदासके त्यों भावे हरिदास यश।।७४

शब्दार्थ—अघट=कम न होने वाला। निवहि=निर्वाह होता हुआ, यथाविधि चलता हुआ। अनुचर=सेवक। उत्कर्ष=श्रेष्ठता, अधिकता। ओतप्रोत=परस्पर सम्मिलित, ताना-बाना सदृश। भृत्य=सेवक। अनुग=सेवक।

भावार्थ—सर्वदुःखहर्ता श्रीभगवानके सुन्दर यश (गुणानुवाद, चरित्र) सुननेमें जिस प्रकार उनके प्यारे दासोंको (संत भक्तजनों) को अनुराग प्रेम बढ़ता है। उसी प्रकार दासोंके गुणानुवाद सुनकर चरित्रोंके सुनने देखनेमें स्वयं श्रीभगवानको अति आनंद होता है।

इस प्रकारका परस्पर एक रस रहने वाला यह प्रेम चारों युगोंमें निबहता चला आया है। भक्तों की भांति स्वयं भगवान अपने भक्तोंके श्रेष्ठगुण, यश गाया सुना करते हैं।

अतः भगवानका भक्तके प्रति व भक्तका भगवानके प्रति अनुराग व प्रेम परस्पर अति प्रगाढ़तासे सम्मिलित है जो कभी भी अलग नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस बातको सम्पूर्ण जगत् जानता है कि जहाँ पर भक्तको संकट पड़ा और उसने जहाँ प्रेमपूर्वक श्रीहरिको याद किया कि देर नहीं लगी और भगवान तुरन्त ही प्रकट हो गये। जिसे सभी धार्मिक ग्रन्थ, वेद, पुराण, शास्त्रादि मुक्त कण्ठसे कह रहे हैं।

देखिये, जिस समय श्रीरघुनाथजी अपने सब सखाओंके साथ लंका-विजयके बाद विजय कर श्रीअयोध्या पधारे तब आप, श्रीवशिष्ठजीके प्रति कहते हैं कि हे सरकार !

ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे।
भरतहु ते मोहि अधिक पियारे॥

श्रीरघुनाथजीको अपने दासों की गुणमयी प्रशंसा सुननेका बड़ा चाव रहता है।

इससे श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजी अपने भक्तोंके यश वर्णन करनेसे बड़े प्रसन्न होते हैं। यहाँ तक कि वशमें हो जाते हैं क्योंकि उनकी भक्तोंमें ऐसी ही प्रीति है। जिस प्रकार भक्त भगवानके बिना व्याकुल हो जाता है वैसे ही भगवान अपने भक्तके लिए व्याकुल होते हैं।

अतः भगवानको प्रसन्न करनेके लिए भक्तोंके चरित्र कहना सुनना लाभदायक प्रशंसनीय है।

टिप्पणी—नेह परस्पर अघट—एक दूसरेमें ऐसा अकथनीय प्रेम है कि जो उत्तरोत्तर बढ़ने ही वाला है। न्यूनता की वहाँ गुञ्जायश नहीं।

२—वे एक दूसरेसे जरा भी अलग नहीं होते। भक्त भगवान को अपने हृदयमें सदैब छिपाये रखते हैं वैसे ही भगवान अपने भक्तको अपनेमें रमाये रहते हैं अर्थात् उनको जरा भी अलग न रखते हुए मायासे निकाल कर अपनेमें ही लगाये रहते हैं। इस तरह दोनोंका नेह अगम होता है।

टिप्पणी—निर्वहि चारों युग आयो—आर्ष-ग्रन्थों द्वारा ये बात बिल्कुल स्पष्ट है कि भगवान व भक्तमें परस्पर प्रेम सत्ययुग से लेकर आज तक बढ़ता ही चला आ रहा है और यही प्रेमका स्वरूप है। जिसको भक्त तथा भगवान दोनों ही निवाहते चले आ रहे हैं।

सतयुग में प्रहलादजी को देखिये।
त्रेता में विभीषण हनुमानादि।
द्वापर में भीष्म द्रोपदी आदि।
कलियुग में तुलसी सूरादि।

प्रत्येक युगमें अनन्त भक्त हुए हैं और इसी तरह चारों युगोंसे यह प्रेम दिन प्रतिदिन बढ़ रहा है और वर्तमानमें भी अनेकों भक्त हो रहे हैं और होते जायेंगे।

३—सीतापति नित होयँ वश—भगवान की कृपा कैसी अहैतुकी होती है इस बातको भक्त ही जानते हैं। भक्त-चरित्र कहने सुननेसे भक्ति हृदयमें बढ़ती ही जाती है और वह स्वयं भक्त हो जाता है जिससे भगवानको वरबश उसके वशमें होना पड़ता है। अतः भक्त गुणानुवादोंका सप्रेम निरन्तर गान करना चाहिए।

❀ षट्-महापाप ❀

गुरुन विषै नर बुद्धि शिला करि गनै विष्णु तन ।
चरणामृत जल जान बात सम कहै मंत्र मन ।
वर्ण भागवत वदहि प्रसादी अन्न जे माने ।
तिन कहं नरक निदान वेद सुस्मृति जु बखाने ।
'अग्र' कहे ये पाप षट् अति मोटे दुर्घट विकट ।
और पाप सब छुटत हैं ये न छुटैं हरिनाम रट ।।७५।।

शब्दार्थ—विषै=विषयमें । शिला=पत्थर । गनै=गिनना, मानना । मन्त्र मन=मन्त्रोंमें श्रेष्ठ श्रीराममन्त्र । भागवत=भक्त । वर्ण=जात । वदहि=कहते हैं । निदान=आखीरमें । दुर्घट=असाधारण । विकट=प्रबल । विष्णुतन=सालिगराम स्वरूप । स्मृति=शास्त्र, पुराणादि ।

भावार्थ—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि जो मनुष्य अपने श्रीगुरुदेवजीको साधारण मनुष्यके समान ही समझता है । जो श्रीशालिगराम शिलाको साधारण पत्थरके समान ही समझता है । श्रीभगवानके चरणामृतको साधारण जलवत् ही मानता है । श्रीमन्त्रशिरोमणि श्रीमन्त्रराजको साधारण बातके समान कहता है व श्रीभगवानके प्रसादको साधारण (भोजन) अन्नके समान विचारता है, उसको अन्तमें महाघोर भयानक कष्टकारी नर्क-दुःख भोगने पड़ते हैं । ऐसा वेद, शास्त्र, पुराणादि कह रहे हैं ।

क्योंकि उक्त छै पाप महा विकट कभी भी नाश न होने वाले अति दुस्तर (अकाट्य) हैं, किसी तरह भी नहीं मिट सकते और दूसरे पापों की तरह ये महापाप राम-नाम रटने पर भी नहीं छूटते हैं ये अवश्य ही भोगने पड़ते हैं ।

टिप्पणी—गुरुन विषै नर बुद्धि—श्रीगुरुमहाराजको कभी भी मनुष्य नहीं जानना चाहिए उनको बुद्धिसे सदैव ईश्वरका ही स्वरूप समझना चाहिए और मन, बुद्धि, चित्तादिसे सदैव उनको मायासे परे जान ईश्वरसे भी अधिक समझना चाहिए।

क्योंकि सभी आर्ष-ग्रन्थ एक स्वरसे ऐसा वर्णन कर रहे हैं। देखिये—

श्रीगुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः, गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

मोतें अधिक गुरुहिं जिय जानी।
बंदौं गुरु पद कंज कृपासिन्धु नररूप हरि।
बन्दे बोधमयं नित्यं गुरुम् शंकर रूपिणम्।

(श्रीगोस्वामीजी)

ऐसा समझ यह उक्त बात गुरुजीके विषयमें कभी भी न लाकर उनको साक्षात् भगवानका ही स्वरूप समझना चाहिए।

टिप्पणी—शिला करि गने विष्णु तन—शालिगराम शिलाको केवल एक किसमका पत्थर ही न समझना चाहिए। उसे तो श्रीविष्णु भगवानका साक्षात् विग्रह ही मानना चाहिए। इस शिलामें प्रायः समस्त विष्णु अवतारोंके चिह्न पाये जाते हैं। साथ ही इस शिला-विग्रह की प्रतिष्ठा भी करवाने की जरूरत नहीं रहती है। इससे यह सिद्ध है कि ये श्रीविष्णु भगवानका साक्षात् विग्रह हैं। इसीसे इस शिलाका नाम विष्णुतन भी है।

टिप्पणी—बात सम कहे मन्त्रमणि—श्रीमन्त्रमणि श्रीराम षडक्षर मन्त्रराजको साधारण मन्त्रके समान समझ बातके समान नहीं कहना चाहिए। लौकिकमें जरा-जरा फोकट प्रभाव वाले मन्त्रोंको लोग प्राणोंसे भी ज्यादा मानकर किसीको नहीं बतलाते

फिर ये तो राजाधिराज श्रीमन्त्रराजजी है। इनको बातों की तरह कभी भी कहना सर्वथा अनुचित है। इस मन्त्रके बाद कोई मन्त्र भी नहीं लेना चाहिए। इसीसे इसे मन्त्रमणि कहा जाता है। देखिये—

मन्त्र महा मणि विषय व्यालके। मेटत कठिन कुअंक भालके।
राम नाम चिन्तामणि सुन्दर। बसै गरुड़ जाके उर अन्तर।
परम प्रकाश रूप दिन राती। नहि तहँ चहिय दिया घृतवाती।
राम नाम चिन्तामणि चारू। संत सुमति तिय सुभग शृंगारु।

ऐसा समझ जो इसको बात की तरह योंही कहते हैं वह महापाप है। तभी तो—

राम नाम महामणि फणि जग जाल है।
मणि लिये फणि जिये व्याकुल बेहाल है॥

(श्रीगोस्वामीजी)

टिप्पणी—वर्ण भागवत बदहि—जीव जिस समय भगवत्-शरण होता है उसके समस्त पाप नष्ट होकर पुनर्जन्म हो जाता है ऐसा पुराणादि कहते हैं। अतः जिस क्षण उसके कर्णमें श्रीराममन्त्रका संचार किया गया उसी क्षण उसका पुनर्जन्म होकर वर्ण बदल गया तब वह किसी जातिका न कहलाकर भागवत पदसे विभूषित हो जाता है। अतः अब उसके विषयमें जाति की कल्पना करना महापाप है। कहा भी है—

जात पांत पूछै नहि कोई। हरिको भजै सो हरि का होई॥

(लोकोक्ति)

अब तो वह 'जानत तुमहि तुमहि हो जाई' के अनुसार भगवत्-स्वरूपको प्राप्त हो गया। फिर वह जात पात क्यों देखने लगा। सारा संसार उसका है वह सारे संसारका है। 'निज प्रभु

भय देखहि जगत कासन करहिं विरोध ।' अब जाति-पांतिका क्या झगड़ा । अस्तु—

❀ भक्त परत्व ❀

कबि जन करत बिचार बड़ो कोउ ताहि भनीजे ।
कोउ कह अवनी बड़ी जगत आधार फनीजे ।
सो धारी शिर शेष शेष शिव भूषण कीन्हों ।
शिव आसन कैलाश भुजा भरि रावण लीन्हों ।
रावण जीतो बालि बालि प्रभु इक सर दंडे ।
'अग्र' कहैं त्रैलोक में हरि उर धारे ते बड़े ।।७६।।

शब्दार्थ—भनीजे=यश कहना । अवनी=पृथ्वी । आधार= अबलम्ब । शेष=शेषनागजी । भूषण=अलंकार, गहना, धारण करना । दंडे=दंड दिया, मार डाला । उरधारे=हृदयमें धारण किया ।

भावार्थ—श्रीस्वामीजी कहते हैं कि कविजनोंने विचार किया कि सबसे बड़ा कौन है कि जिसकी पावन कीर्तिधारामें हम अपनी वाणीको मज्जन कराकर पुनीत करें । इसी अन्वेषणमें आप सब विचार करते हुए कहते हैं 'कि पृथ्वी ही सबसे बड़ी है क्योंकि यही समस्त जड़, चेतन, संसार की आधारभूता है । फिर कुछ सोचते हुए कहते हैं कि नहीं । पृथ्वीको तो शेषनागजी महाराज सरसों (एक बहुत ही छोटे अन्नका नाम जिसमेंसे तेल निकाला जाता है) की तरह अपने शिर पर रक्खे हुए हैं । इससे इस धराके आधार धराधर शेषजी ही, सबसे बड़े ज्ञात होते हैं ।

अनन्तर फिर यह विचार बदलते हुए सोचते हैं कि यह भी ठीक नहीं हुआ । क्योंकि श्रीशंकरजी महाराज शेषजीको गहने

की तरह अपने शरीरमें धारण किये हुए हैं । इनके आधार श्रीशंकरजी होनेसे, श्रीशंकरजी ही अग्रगण्य ठहरते हैं । यह भी पूर्णतया निश्चय न हो पाया कि फिर ख्याल होता है कि श्रीशंकरजीका भी तो आधार (आसन) कैलाश ही है । फिर उसीको क्यों न बड़ा कहा जाय । पर शिवा-शिव सहित कैलाश को तो रावणने अपनी भुजाओंमें भरकर उठा लिया था । अतः रावण बली ठहरता है किन्तु रावणको तो बालीने जीत लिया था और बालीको श्रीरामजीने एक ही बाणमें मार डाला था । इसलिए श्रीरामजी ही सर्वोपरि सबसे बड़े हैं । इन्हींका यश-गान करना चाहिए ।

इस प्रकार निश्चय कर कविजनोंने (श्रीबाल्मीकिजी व वेदव्यासादिजी) ने अपरिमित श्रीहरि चरित्र ही अनेकों प्रकार से गाये हैं ।

श्रीअग्रस्वामीजी कहते हैं कि मेरी समझमें तो श्रीरामजीके आधारभूत भक्त हैं जो उनको सदैव अपने हृदय-कमलमें धारण किये रहते हैं और इसमें उनको कोई प्रकारका प्रयास भी नहीं पड़ता । वे बड़े आनन्दपूर्वक अपनेमें छिपाये रहते हैं । उक्त न्यायानुसार तो भक्तजन ही सबसे श्रेष्ठ उतरते हैं फिर इन्हींका यशगान क्यों न किया जाय । जिनका यश-गान परमानन्दमय है ।

इसीसे—

बिधि हरि हर कबि कोबिद बानी ।
कहत साधु महिमा सकुचानी ॥

॥ इति अग्रग्रन्थावली प्रथमभाग सम्पूर्ण ॥